रंग संवाद

सितंबर 2015

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) का
संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : rangsamvad@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित। मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, **25**-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

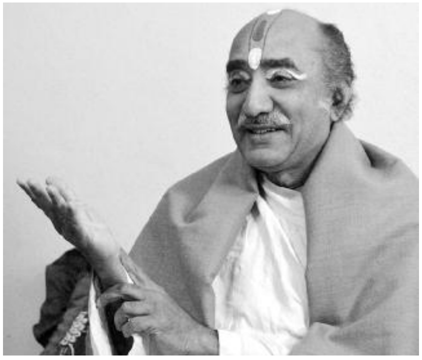

इस बार

गुरू परंपरा में गूँजता सरगम - **अश्विनी भिड़े - 5**

वो वज़्म की हर चीज़ को परवाना बना दे... - **हिमांशु बाजपेयी - 8**
(मशहूर गायिका बेगम अख्तर का सफरनामा)

परमात्मा को ही सुरों का अर्ध्य चढ़ाना है - **संजय पटेल - 14**
(संगीत मनीषी पं. गोकुलोत्सव महाराज से संवाद)

एक अनश्वर चितेरा : राजा रवि वर्मा - **प्रभु जोशी - 16**

केनवास पर बनते स्वप्न-चित्र - **मंजूषा गांगुली - 23**

माँ याद दिलाते हैं मेरे चित्र
(चित्रकार **प्रमोद गणपत्ये** से **पंकज शुक्ला** का संवाद) - **25**

अर्मूत रंगमंच का औचित्य? - **आलोक चटर्जी - 28**

जीवन की पहली पाठशाला आज खंडित - **जयप्रकाश चौकसे - 30**

सांस्कृतिक पुरुषार्थ के चढ़ते सोपान : **कृति व्यक्तित्व : संतोष चौबे - 38**

एक दुपहरी यादों की - **यशवंत व्यास - 42**
(कथाकार भीष्म साहनी का स्मरण)

दृश्य व्याख्याएँ और सिनेमा - **सुनील मिश्र - 45**

सिने पटकथा नये विमर्श की दरकार - **राहुल सिंह - 47**

शेष विशेष - पावन ज़िद है 'ध्रुवा' - **विनय उपाध्याय - 49**

सृजन के आसपास (साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ) - **51**

● **आकल्पन** : विनय उपाध्याय ● **मुख्य आवरण चित्र** : रज़ा मावल ● **अंतिम आवरण चित्र** : प्रवीण दीक्षित

● **आवरण सज्जा** : वंदना श्रीवास्तव ● **भीतर के छायाचित्र** : विजय रोहतगी, प्रवीण दीक्षित, सौरभ अनंत, अरुण जैन, अमीन अख्तर

संपादकीय

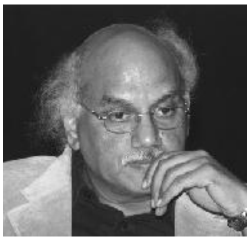

ध्रुपद से खयाल तक

क्योंकि 'रंग संवाद' के इस अंक में प्रख्यात गायिका अश्विनी भिड़े देशपांडे की किताब 'राग रचनांजलि' तथा पुष्टि मार्ग के प्रसिद्ध गायक गोकुलेश्वर महाराज पर केंद्रित विशेष आलेख है अतः भारत में शास्त्रीय संगीत के विकास और उनके इतिहास की याद आना स्वाभाविक है.

पंडित शारंगदेव मध्यकाल में भारतीय संगीत की सबसे बड़ी अथॉरिटी माने गये थे और तेरहवीं शताब्दी में लिखा गया उनका ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' भारतीय संगीत के इतिहास में एक मील के पत्थर की तरह लिया जाता है. 'संगीत रत्नाकर' शोध और गहराई का अप्रतिम उदाहरण है. शारंगदेव अपने ग्रंथ में पहले तो पूर्व में लिखे गये अन्य ग्रंथों की सैद्धांतिक विवेचना करते हैं जिनमें भारत, दत्तिल, कोहल, मातंग और नारद शामिल हैं और ऐसा लगता है जैसे वे उत्तर और दक्षिण के संगीत के बीच किसी यूनीफाईड थ्योरी की तलाश कर रहे हैं. उसके बाद वे जातियों का विस्तृत विवरण देते हैं, ग्राम रागों के बारे में बताते हैं और उनके वास्तविक नोटेशन भी देते हैं.

आगे चलकर वे रागों पर आ जाते हैं. 'राग विवेकाध्याय' एवं 'प्राक् प्रसिद्ध देसी राग' में वे मार्गी एवं देसी के विमर्श को आगे बढ़ाते हैं और जाति तथा रागों के संबंध की विवेचना भी करते हैं. फिर वे यास्तिक और मातंग मुनि के आधार पर रागों का वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं. उनके अनुसार आठ उपरागों की प्रारंभिक सूची इस प्रकार थी- तिलक, शक, टक्का, सैंधव, कोकिला, पंचम, रेवागुप्त एवं पंचम् षाडव. उसके बाद वे बीस रागों की एक बड़ी सूची देते हैं. शारंगदेव ऐसी 15 मेलोडीज़ के बारे में बताते हैं जो अब प्रमुख रागों में शुमार मानी जाती थीं. सौबीर, ककुभ, पंचम, भिन्न पंचम, हिंडोलका, मालव कैसिका, भिन्न षड्ज ऐसे ही कुछ राग थे. पर सबसे महत्वपूर्ण ये था कि शारंगदेव प्रत्येक राग को एक रूपायिकता प्रदान करते हैं जो राग के चरित्र को भी परिभाषित करती थी. जैसे वे बताते हैं कि राग भैरव असल में पुरातन राग भिन्न षड्ज से ही निकला है और प्रार्थना के लिये बहुत उपयुक्त है.

इसी समय का एक प्रसिद्ध किस्सा भारतीय पद्धति के प्रसिद्ध गायक गोपाल नायक एवं उभरती हुई ईरानी पद्धति के प्रणेता अमीर खुसरो के बीच हुई प्रतियोगिता का है. गोपाल नायक उस समय के सांस्कृतिक केंद्र देवगिरि (वर्तमान औरंगाबाद) के राजा रामचंद्र के दरबार में थे. कहते हैं कि देशभर में उनके 1200 से अधिक शिष्य थे जो उन्हें पालकी से नीचे पाँव नहीं रखने देते थे. वे दाक्षिणात्य पद्धति के प्रकांड विद्वान थे. जब खिलजी के सेनापति मलिक काफूर ने राजा रामचंद्र को पराजित किया और उन्हें खिलजी के दरबार में ले गया तो उनके साथ साथ गोपाल नायक की प्रसिद्धि भी खिलजी के दरबार में पहुंची जहाँ अमीर खुसरो संगीतज्ञ थे. तो गोपाल नायक और अमीर खुसरो के बीच प्रतिस्पर्धा आयोजित की गई. कहते हैं कि अमीर खुसरो ने खिलजी सम्राट से निवेदन किया कि पहले वे गोपाल नायक को सुन लें और इन सभाओं में वह भी उपस्थित रहेगा. ऐसा छः बार हुआ. सातवीं बार खुली प्रतिस्पर्धा हुई जिसमें खुसरो ने तो गोपाल नायक द्वारा गायी गई रागों को सुनकर सुना दिया लेकिन खुसरो की ईरानी पद्धति से गोपाल नायक परिचित नहीं थे अतः वे ऐसा नहीं कर सके. उन्हें हार माननी पड़ी. मुझे तो कथा वास्तविक से ज्यादा प्रतीकात्मक लगती है. अमीर खुसरो एक उभरती हुई विजेता संस्कृति के प्रतीक थे और विजित प्रदेश के गायक पर उनका विजय प्राप्त करना स्वाभाविक ही था. यह भी हो सकता है कि अपने संगीत की शुद्धता को बनाये रखने

के लिये स्वयं गोपाल नायक ने उसे छुपाये रखना ही ठीक समझा हो और हार मान ली हो. पर ज्यादा संभव ये है कि वहाँ से ईरानी और भारतीय पद्धति के बीच आदान-प्रदान की शुरुआत हुई हो जिसे आगामी चार पाँच शताब्दियों में हम अलग तरह से प्रस्फुटित होते हुये देखते हैं.

संगीत के अगले पड़ाव के रूप में ग्वालियर के राजा मानसिंह और उनका ग्रंथ 'मान कुतूहल' आते हैं जहाँ से ध्रुपद की व्यवस्थित जानकारी हमें मिलती है. हालांकि 'मान कुतूहल' की मूल प्रति उपलब्ध नहीं है लेकिन ईरान में उसके अनुवाद 'राग दर्पण' से हमें उसकी जानकारी मिलती है. कहते हैं कि दाक्षिणात्य संगीतकारों का एक समूह कुरुक्षेत्र दर्शन के लिये उत्तर की ओर आया था. लौटते में वह ग्वालियर में रुका जहाँ उस समय बैजू, बख्शू और तानसेन जैसे प्रख्यात ध्रुपद गायक मौजूद थे, तो इस अवसर पर कई दिनों तक चलने वाले एक संगीत विमर्श तथा संगीत सभा का आयोजन किया गया जिसमें उस समय के संगीत को व्यवस्थित रूप दिया गया और इसी के आधार पर 'मान कुतूहल' की रचना हुई जहाँ से रागों और ध्रुपद शैली की व्यवस्थित जानकारी हमें मिलती है. ध्रुपद के पहले विष्णु पद भी प्रचलित थे. पर मानसिंह का बड़ा योगदान ये है कि उनके समय में संगीत ने लोकभाषा यानी ब्रज भाषा को अपनाया.

क्योंकि राजा अकबर की राजधानी आगरा में थी जो ब्रजक्षेत्र का केंद्र था अतः उनके समय भी गायकी की शैली ध्रुपद ही रही और संगीत रचनाएँ ब्रज भाषा में ही की जाती रहीं जो आज तक चली आती हैं. राजा मानसिंह के पतन के बाद तानसेन पहले रीवा के राजा रामचंद्र के दरबार में पहुंचे जो खुद संगीत के बड़े आश्रयदाता थे. तानसेन ने वहाँ बहुत प्रसिद्धि पाई और अंत में राजा अकबर के दरबार में बुला लिये गये. वे ध्रुपद शैली के बड़े गायक थे. उनके समय में भी बैजू बाबरा और गोपाल नायक (द्वितीय) की संगीत प्रतियोगिता की चर्चा होती है, जो शायद राजा रामचंद्र के दरबार में हुई थी और जिसमें बैजू ने विजय प्राप्त की थी.

भारत की राजधानी दिल्ली पहुंचने पर ध्रुपद संगीत को नई चुनौती का सामना करना पड़ा. वहाँ सूफी संगीत और कव्वाली का प्रचलन था जिसमें तानों द्वारा संगीत का फैलाव किया जाता था. तब तक ईरानी 'मुकाम' पद्धति भी वहाँ स्थापित हो चुकी थी. अब शास्त्रीय संगीत ने नया स्वरूप ग्रहण किया, जहाँ ध्रुपद के स्थाई और अंतरा अंग को तो शामिल किया गया वहीं कव्वाली के 'तान' अंग को भी जगह दी गई और इस तरह खयाल गायकी का स्वरूप उभरा जिसे मुहम्मदशाह रंगीले ने अठारहवीं शताब्दी में उत्तर-भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रतीक ही बना दिया. उसके समय के सदारंग-अदारंग पहले ध्रुपद गायक ही थे पर मुहम्मदशाह के झुकाव को देखते हुये उन्होंने खयाल गायकी को ही अपना लिया. वास्तव में खयाल गायकी की प्रसिद्धि यहीं से हुई मानी जा सकती है.

इस बीच पंडित वल्लभाचार्य ने सोलहवीं शताब्दी में मथुरा, राजस्थान और गुजरात में मंदिरों की स्थापना कर पुष्टि मार्गी संप्रदाय की स्थापना की और अष्टयाम पूजा से संगीत को जोड़ा. अष्टछाप के कवि, जिनमें महाकवि सूरदास भी शामिल थे, न सिर्फ कवि थे बल्कि संगीतज्ञ भी थे. मंदिरों में आठों प्रहर की पूजा में अलग-अलग राग गाये जाते थे जिसने रागों को समय के साथ जोड़ा और वार्षिक पूजा में अलग अलग मौसमों के साथ भी. इस तरह शास्त्रीय रागों के लिये एक 'टाइम थ्योरी' ईजाद हुई. रचना की भाषा अब भी रससिक्त ब्रज भाषा ही थी. पुष्टिमार्गी संगीत के ही विकसित रूप कीर्तन संगीत और हवेली संगीत हैं. पुष्टि मार्गी मंदिरों में आज भी संगीत का गायन समयानुसार विभिन्न रागों में किया जाता है.

हमारे आज के समय में ध्रुपद, खयाल और हवेली संगीत साथ साथ उपस्थित हैं और लोक संगीत की एक समृद्ध परंपरा भी है. हमें अपनी इस परंपरा को जानना भी चाहिये और उस पर गर्व भी करना चाहिये. वही भारतीय संगीत को उन ऊंचाईयों तक पहुंचाती है, जहाँ आज वह है.

17 सितंबर 2015 **संतोष चौबे**

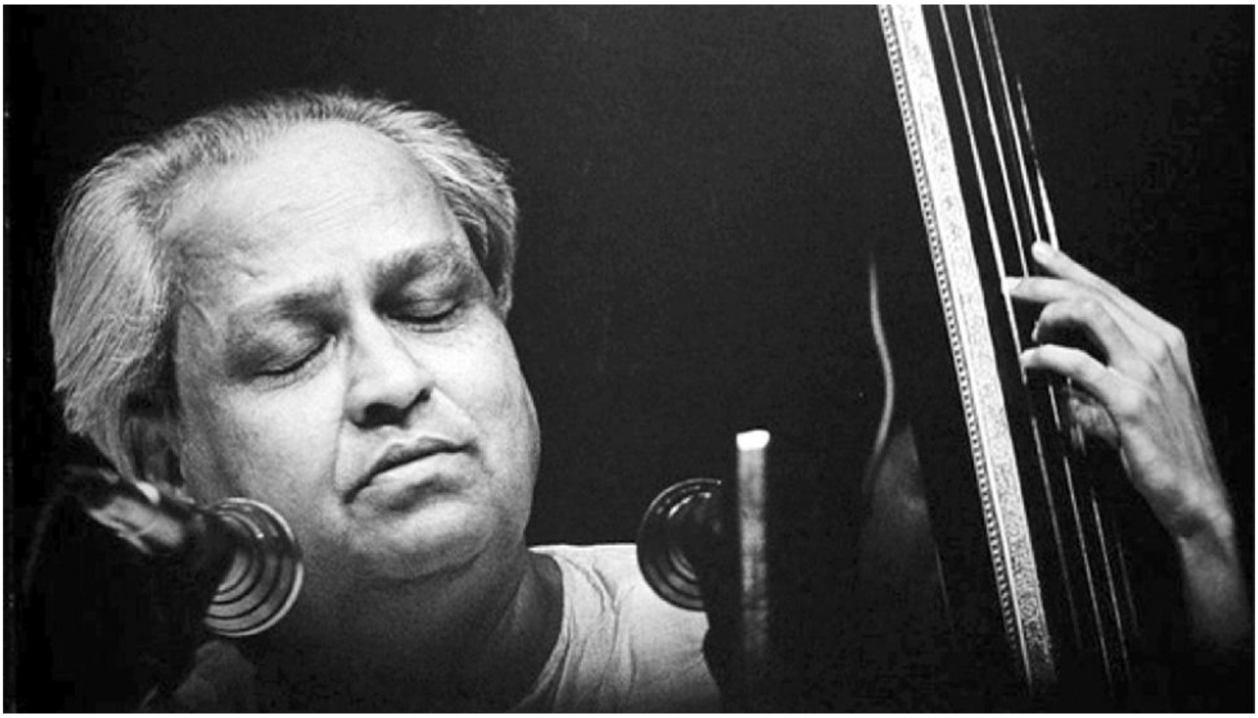

गुरू परंपरा में गूँजता सरगम

''जीवन के सारे ऋण उतारे नहीं जा सकते। कई ऋण ऐसे होते हैं जिन्हें मस्तक पर उठाकर ले चलने में ही जीवन की सार्थकता समाई होती है।'' कृतज्ञता का यह ज्ञापन 'राग रजनांजलि' के पन्नों पर देखा जा सकता है। यशस्वी गायिका अश्विनी भिड़े देशपाण्डे ने अपने पुरखों से मिली पूँजी को संजोया है जिसने लड़कपन से आज तक उनकी गायिकी को पोसा है। वे अपनी वैभवशाली परंपरा के ध्वजा धारियों जयपुर-अतरौली घराने के संस्थापक उस्ताद अल्लादिया खाँ, किशोरी अमोणकर और स्व. पं. मल्लिकार्जुन मंसूर को याद करती हैं। वे अपने गुरुओं स्व. पं. नारायणराव दातार, माणिक भिड़े और रत्नाकर पई के ऋणों के प्रति धन्यता का अनुभव करती हैं। 'राग रचनांजलि' पुस्तक में अश्विनी ने उन बेशुमार बंदिशों को स्वरलिपियों के साथ प्रस्तुत किया है जिन्हें कई पीढ़ियाँ महफिलों में गाती-गुनगुनाती रही हैं। एक शिष्य की ओर से अपने अग्रज संगीतकारों को यह विनम्र प्रणति है। -संपादक

बहुत पहले के ज़माने से संगीत कला के साधक एक से एक बढ़कर अच्छी बंदिशों का संग्रह करते आ रहे हैं। आजकल के हम गायक जो बंदिशें सीखते और गाते हैं उनमें से कई बंदिशें कई सौ साल पुरानी हैं। सदारंग-अदारंग जैसे पुराने ज़माने के दिग्गज रचनाकारों की बंदिशें आज भी उतना ही तरो-ताज़ा हैं। आज भी संगीतकला का प्राथमिक विद्यार्थी इनको सीखता है, मूर्धन्य कलाकार भी इन्हें अपने गायन के प्रदर्शन हेतु उपयोग में लाते हैं। कहा जाता है कि सबसे पहले रचना प्रबंध की थी और कई शताब्दियों के पश्चात् खयाल का जन्म हुआ, जो अभी पिछली शताब्दी की बात है। लेकिन इन दोनों के बीच के कालखण्ड में संगीत रचना को कई संस्करणों से गुजरना पड़ा होगा। खयाल के जन्म के पश्चात् भी उसे बड़ा ख्याल और छोटा ख्याल इन दो सामान्य रूपों के अलावा अन्य कई रूप धारण करने पड़े - जैसे मध्यलय ख्याल, तराना, चतरंग, त्रिवट, ठुमख्याल, टप्ख्याल, ख्यालनुमा इत्यादि। संगीतकला के विद्यार्थी होने के नाते हमने इस सभी को सीखते हुए अपना रास्ता तय किया है। इन्हीं के अभ्यास से हमें राग को सँवारने का रास्ता दिखाई देता है, हमारी रागरूप की दिशा बनती जाती है। यही है राग के स्वर्णालंकार तथा इन्हीं की बदौलत गायक कलाकार अधिकाधिक समृद्ध और संपन्न बनता जाता है।

कहते हैं बंदिश राग का नक्शा होती है। अर्थात् किस रस्ते से रागप्रवाह की धारा बहेगी इसका प्रमाण। लेकिन यह धारणा सामान्यरूप से मान्य है कि अलग-अलग बंदिशों में राग के अलग-अलग स्वरूप दिखाई पड़ते हैं। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के असंख्य राग हैं, मानो प्रकृति के सुंदर बगीचे, जिनमें कई तरह के फूल, पौधे, वृक्ष, लताएँ, कुंज, विहार, पुष्करणियाँ और सौंदर्यस्थलों की बहुतायत है। एक कलाकार को इन सौंदर्यस्थलों की लगन लगी रहती है। राग की

बंदिशें मानो इन सौंदर्यस्थलों तक कलाकार और श्रोता दोनों को ले जाने वाली पगडंडियाँ हैं। कोई तो हैं छोटी सी पगडंडियाँ, कोई मार्ग, पथ या फिर शाही राजमार्ग। इन्हीं पर चलते-चलते हमें नजर आएँगे बगीचे के प्राकृतिक तथा मानव निर्मित नज़ारे। एक होनहार माली जो बगीचे की मरम्मत में कुछ अर्से से जुटा हुआ होता है, उसे इन सारे रास्तों का पता होता है। बिल्कुल उसी तरह कलाकार साधक को राग के बगीचे में घूमने-फिरने के सभी मार्ग पता होते हैं, फिर भी भटकने का डर नहीं रहता। अपने साथ वह श्रोताओं को भी इस परिभ्रमण में संगी बनाकर घुमाकर लाता है, किसी दूसरे बगीचे में भटके बिना। इन सौंदर्यस्थलों की यात्रा जिन बंदिशों के बल पर हम करते हैं वे या तो पीढ़ी-दर-पीढ़ी गुरु से शिष्य को सिखाई गईं पारंपरिक बंदिशें हैं, या फिर सर्वथा नवीन, समकालीन, जिन्हें बने हुए अभी सौ-पचास साल भी नहीं हुए और जिन्हें हस्तांतरित करते हुए गुरु-शिष्यों कई पीढ़ियाँ अभी नहीं बीतीं।

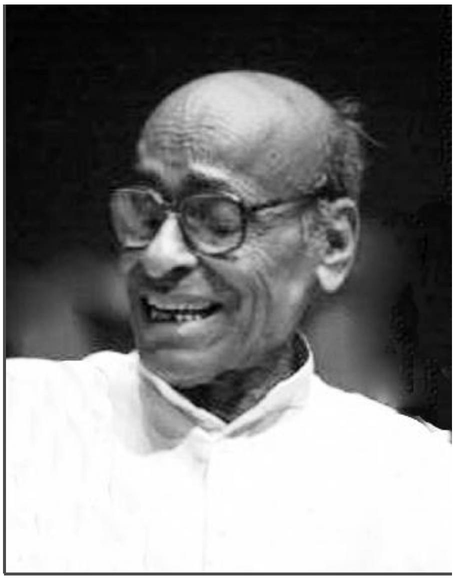
पंडित मल्लिकार्जुन मंसूर

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की वैभवशाली मौखिक परंपरा के अनुसार जो बंदिशें गुरु से शिष्यों तक और फिर शिष्यों से उनके शिष्यों तक पीढ़ी-दर पीढ़ी संक्रमित होती रहीं, अभी भी हो रही हैं, वे ही हैं पारंपरिक बंदिशें हैं, या फिर सर्वथा नवीन, समकालीन; जिन्हें बने हुए अभी सौ-पचास साल भी नहीं हुए और जिन्हें हस्तांतरित करते हुए गुरु-शिष्यों कई पीढ़ियाँ नहीं बीतीं।

विदुषी किशोरी आमोणकर

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की वैभवशाली मौखिक परंपरा के अनुसार जो बंदिशें गुरु से शिष्यों तक और फिर शिष्यों से उनके शिष्यों तक पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रमित होती रहीं, अभी भी हो रही हैं, वे ही हैं पारंपरिक बंदिशें। इनमें से कई बंदिशें सौ-दो-सौ से भी अधिक साल पुरानी हैं जिनकी रचनाकारी का संबंध उन दिनों की मौजूदा ध्रुपद गायकी से जोड़ा जा सकता है, लेकिन फिर भी आज ख्याल गायन में इनका स्थान अटल है। काल की कसौटी पर जाँची-परखी गई ये बंदिशें निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ हैं। ये ऐसी बंदिशें हैं जिन्होंने ख्यालगायन की बहती एवं बदलती धारा का अनेक वर्ष सामना किया और वे उसमें बह नहीं गईं। विस्मृति के पर्दे के पीछे लुप्त नहीं हो पाईं। इनमें अपनी मूलभूत रचनाकारी की जबरदस्त शक्ति समाई हुई थी, जिसके बल पर वे टिकी रहीं। गायक कलाकार बदलते रहें, उनकी गायन शैलियों में परिवर्तन आता रहा, इन बंदिशों का स्वरूप भी काल की धारा से बहते-बहते बदल गया- निश्चय ही ये बंदिशों का स्वरूप भी काल की धारा में बहते-बहते बदल गया। निश्चय ही ये बंदिशें आज की तारीख में जिस तरह से गाईं जा रही हैं वैसी रची नहीं गई थीं। निश्चय ही उनके प्रस्तुतीकरण में भी बदलाव आ गया। यही उनका बड़प्पन है, यही उनकी शक्ति है, यही उनका बलस्थान है। ख्याल गायन की यात्रा के दौरान उसमें कई नई बंदिशें समाती गईं। हमारे बुजुर्गों ने अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के जरिए राग संगीत को अधिकाधिक समृद्ध किया। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के साधक की भूमिका में मैंने जिस तरह से पारंपरिक बंदिशों का आनंद उठाया, उसी तरह समकालीन रचनाकारों की बंदिशें कभी विधिवत् सीखीं, कभी औरों से सुनकर उनकी रचनाकारी का आनंद उठाया। लेकिन मैंने स्वयं बंदिशें क्यों कहीं? आज की घड़ी में मेरे संगी गायक कलाकारों में कई ऐसे भी हैं कि जो कहते हैं- 'इतनी अच्छी बंदिशें पहले से मौजूद हैं, अब और नया और अच्छा हम करके दिखाएँ भी तो क्या दिखाएँ?' हाँ, यह बात मुझे मंजूर है। बहुत सारी सुंदर-सुंदर बंदिशें अर्से से लोग गाते चले आ रहे हैं और उन सबका ब्यौरा देना किसी एक व्यक्ति के लिए मुमकिन नहीं है। इनको गाकर हम न सिर्फ अपनी आवश्यकता को पूरा करते हैं, बल्कि उनका आनंद भी भरपूर लूटते हैं। फिर और नई बंदिशों की क्या जरूरत? नई बंदिशें बनाकर क्या हमने कुछ नया कथन किया? कोई नया स्थान पाया जो उस राग में परम आनंददायी साबित हो सके? इन सवालों का सरल सा उत्तर है कि 'नहीं'। हमने ऐसा कुछ नहीं कहा जो आज तक नहीं कहा गया हो।

विदुषी अश्विनी भिड़े

ख्यालगायन की यात्रा के दौरान मुझे इस बात का अहसास बार-बार हुआ कि शायद जो बात मैंने आज कही, बहुत पहले किसी ने कह दी है। मेरी कोई बात, कोई

कल्पना, कोई आकृति, कोई रचना संपूर्णतया नई नहीं है, किसी ने पहले ही बात बनाई है। फिर नई बंदिशें बनाने का प्रयास मैं क्यों किए जा रही हूँ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर ढूँढने पर भी मुझे नहीं मिलता। हाँ, जिस तरह से कंठ संगीत मेरी अभिव्यक्ति का साधन है, उसी तरह शायद बंदिश कहना भी मेरी अभिव्यक्ति ही का साधन है। मेरे समकालीन संगीतकारों ने जब बंदिशें बनाईं, तो उनका प्रेरणास्रोत क्या रहा, इसके बारे में मैं बहुत ही कम जानकारी रखती हूँ। मेरी ज्यादातर बंदिशें पिछले छह-सात वर्षों में बनी हैं। बंदिश कहने प्रेरणा शायद मुझे अपने समकालीन-बुजुर्ग रचनाकारों से प्राप्त हुई है।

मेरा मानना है कि यह प्रेरणा ज्यादातर अंदर से उभरी हुई है। जब किसी राग को प्रकट करते समय मैं किसी काव्य का सहारा लेती हूँ, तो वह मुझे उस राग के भाव तक पहुँचाने में मददगार साबित हो, इसके लिए। बंदिश के शब्द या काव्य मेरे लिए मानों एक सीढ़ी के समान होते हैं, जो रागभाव तक ले जाने में मेरी सहायता करते हैं। जब यही काम मैं अपने खुद के शब्दों में करती हूँ तो वह और आसान बन जाता है। अच्छे साहित्य के प्रति मेरा बहुत पहले से आकर्षण रहा है। ख्याल के काव्य विषय के प्रति भी मैं सजग रहने का प्रयास करती आ रही हूँ, चाहे ख्याल गायन में कविता दो या तीन पंक्तियों की ही क्यों न हो! ख्याल गायन में शब्दों का या अक्षरों का उपयोग सिर्फ स्वरों को टांगने के लिए खूँटियों के समान हो, यह बात मुझे कभी जँची नहीं। पुराने रचनाकारों ने जिस ब्रजभाषा का उपयोग बंदिशें कहने के लिए किया, वही मुझे मीठी लगती है। एक ही विषयवस्तु के लिए बृजभाषा में जितने समांतर शब्द मिलते हैं, सभी मीठे, गेय तथा काव्यात्मक होते हैं। भाषा के इस लचीलेपन से मैं मोहित रही। कभी-कभी बंदिश अपने आप, बिना आयाम बनकर सामने आ गई, कभी-कभार उसके प्रयास और प्रक्रिया करनी पड़ी। कभी स्वर पंक्ति और काव्य पंक्ति दोनों साथ-साथ अवतरित हुए तो कभी एक के बाद एक। कभी पहले काव्य कल्पना जागी और फिर उसे सुर-लय में बाँधना पड़ा, तो कभी एकाध स्वरपंक्ति दिमाग में ऐसी जम गई कि बंदिश का मुखड़ा बनकर ही बाहर निकली।

कई बार जरूरत पड़ने पर उसकी पूर्ति के लिए मैंने बंदिशें कहीं। जैसे जयपुर-अतरौली घराने के अंतर्गत गाये जाने वाले कई राग विलंबित ख्याल गा कर समाप्त किये जाते हैं, द्रुत बंदिशें नहीं गाई जातीं। ऐसी हालत में ऐसे रागों में द्रुत बंदिश कहने की मैंने कोशिश की। इसी के फलस्वरूप काफी कानड़ा, हिंडोलबहार, बसंती केदार, सावनी नट, डागुरी आदि रागों में बंदिश बन गईं। अन्य कुछ रागों में मुझे ढूँढकर भी बंदिशें नहीं मिलीं जैसे- राग वाचस्पती आदि। अतः इनमें खुद को बंदिश कहकर राग रूप सँवारना पड़ा तो क्यों? और बनाने के पश्चात् फिर किनारे क्यों रह गईं? इन सवालों के जवाब मेरे पास नहीं हैं। हाँ, सिर्फ उदाहरण दे सकती हूँ राग 'अभोगी' का। यह राग मैंने कभी सीखा नहीं, गाया नहीं, इसमें मैंने बंदिशें बनाकर अपनी शिष्याओं को सिखाई भी लेकिन अभी भी मैं 'अभोगी' राग को अपनी महफिल में प्रस्तुत करते हुए कतराती हूँ।

आज जब गुरु-शिष्य परंपरा विलोपित होती चली जा रही है, हमें कई उदाहरण मिलते हैं ऐसी बंदिशों के, जिनमें बंदिश के रचनाकार शिष्य ने गुरु के प्रति समर्पण-भावना व्यक्त की हो। जब यह बंदिश कहने की परंपरा शिष्य के शिष्यों तक तथा उसके आगे भी चलती रहती है तो यह एक असाधारण घराना विशेष के रूप में दिखाई देता है। मेरे सामने आगरा घराने की बंदिशें घराना वैशिष्ट्य बनकर जीवित खड़ी है। शिष्य के मनोज्ञ संबंध को रेखांकित करती हैं, वह निश्चय ही न सिर्फ भारतीय संगीत को बल्कि भारतीय संस्कृति की धरोहर को आगे बढ़ाती हैं। मैं अपने आपको बहुत ही सौभाग्यशाली मानती हूँ कि इस वैभवशाली गुरु-शिष्य परंपरा का एक धागा बनने का श्रेय मुझे मिला।

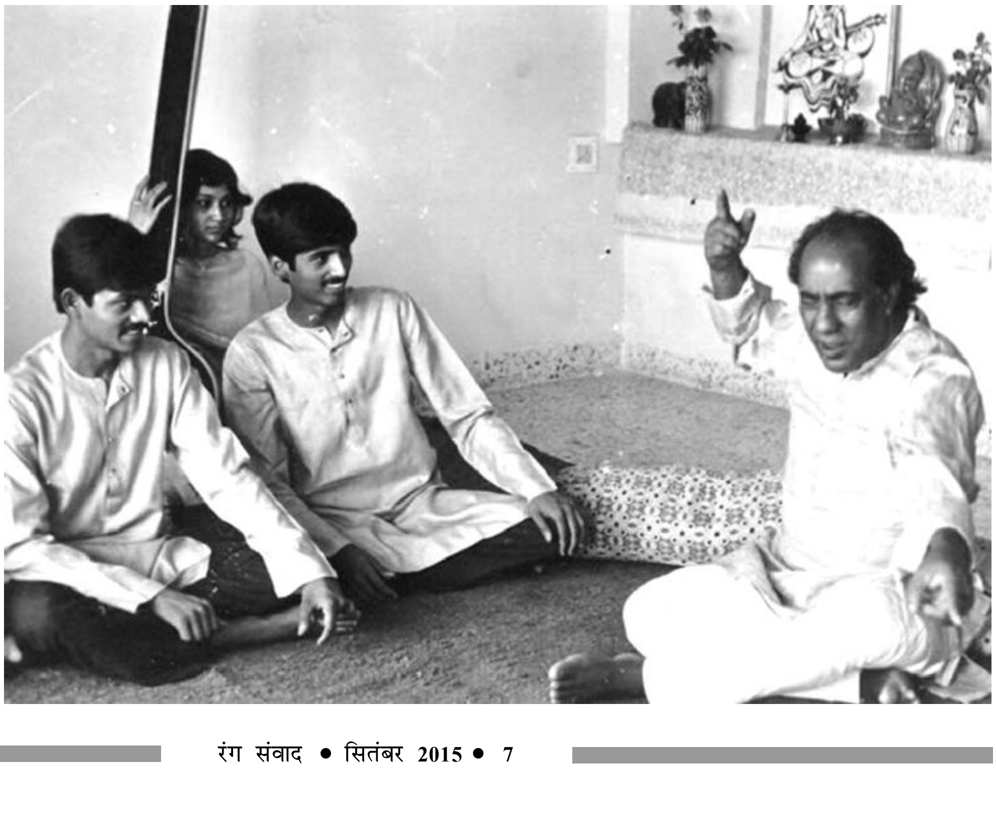

गुरुवाणी का सम्मोहन: ध्रुपद के उस्ताद ज़िया फरीदुद्दीन डागर और शागिर्द गायक उमाकांत-रमाकांत गुंदेचा

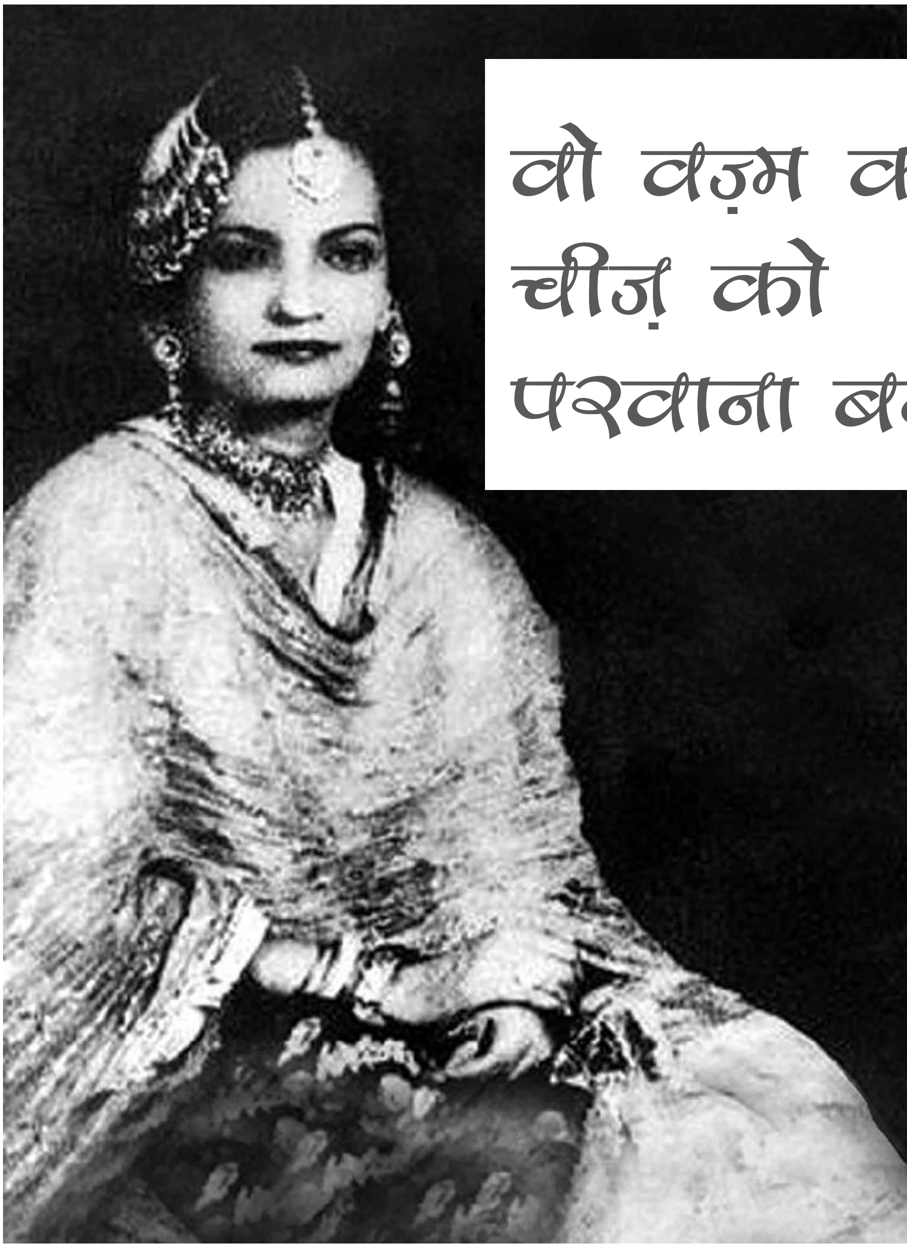

वो वज़्म की हर चीज़ को परवाना बना दे...

हिमांशु वाजपेयी

दूरदर्शन के एक प्रसारण में कैफ़ी आजमी से पूछा गया- आपकी पहचान नज़्मों के लिए रही है, ग़ज़लें आपने बहुत कम कही हैं। लेकिन इन दिनों आप फिर से ग़ज़लें कहने लगे हैं। इसकी क्या वजह है? कैफ़ी ने जवाब दिया- 'मैंने वापस ग़ज़लें कहना उसी वजह से शुरू किया जिस वजह से ग़ालिब मुसव्विरी सीखना चाहते थे. (सीखे हैं महरूखों के लिए हम मुसव्विरी/तक़रीब कुछ तो बहरे मुलाक़ात चाहिए) मैं ग़ज़ल इसलिए कहता हूँ ताकि मैं ग़ज़ल यानी बेगम अख़्तर से नज़दीक हो जाऊं.' कैफ़ी आज़मी का ये जुमला बेगम अख़्तर की शख़्सियत के बारे में बहुत कुछ कह जाता है। वो सचमुच हमारे मुल्क बल्कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप में ग़ज़ल का दूसरा नाम हैं। किसी भी महफिल में जब ग़ज़ल का ज़िक्र छिड़ता है तो बात बेगम अख़्तर से ही शुरू होती है और उन्हीं पर आकर ख़त्म होती है। बेगम अख़्तर ने ग़ज़ल गायिकी को और ग़ज़ल गायिकी ने बेगम अख़्तर को बेपनाह शोहरत अता की है। कोठे से उतरी ठेठ दरबारी शैली की ग़ज़ल गायिकी को आवाम के बीच रचा-बसा देने का करिश्मा वही कर सकती थीं।

ग़ज़ल उनकी गायिकी का सबसे दिलकश अंदाज़ ठहरा लेकिन उनकी ज़ंबील में ग़ज़ल के अलावा ठुमरी, चैती, दादरा, ख़याल आदि विधाओं के भी बेशुमार नगीने हैं। उपशास्त्रीय गायन का सम्मोहन बेगम अख़्तर के यहां अपने शबाब पर दिखता है। जो कुछ भी उन्होंने गाया, यूं लगा कि वो बेगम के लिए ही बना है और बेगम उसी के लिए ही बनी हैं। उनके अनन्य प्रशंसक यतीन्द्र मिश्र उनकी गायिकी को विश्लेषित करते हुए कहते हैं- 'उनकी शास्त्रीय संगीत की परंपरा पटियाला घराने के उस्ताद अता मोहम्मद ख़ान और किराना घराने के दिग्गज उस्ताद अब्दुल वाहिद ख़ान से संबद्ध रही है.वे जहां पटियाला घराने की गंभीर गायकी में अपने उस्ताद से ग़ज़ल, ठुमरी और दादरा सीखने में व्यस्त रहीं, ठीक उसी समय उन्हें किराना घराने के ख़्याल की बारिकियों को सीखने का अवसर मिला.बेग़म अख़्तर की पूरी सांगीतिक यात्रा, इन्हीं दो घरानों के बीच किसी नाजुक बिन्दु पर संतुलित मिलती है, जिसमें उनकी आवाज़ ख़्याल, ठुमरी, दादरा, चैती, कजरी और ग़ज़ल से होती हुई अद्भुत पुकार-तान व आकार लेने की असमाप्त मींड-मुरकियों-पलटों के साथ खनकती हुई पास आती है'. यतीन्द्र के मुताबिक उनके लिए संगीत सिरजना सिर्फ़ राग, ताल और धुनों पर ही आधारित काम नहीं था, बल्कि वे गीत के शब्दों और बोलों की सटीक अर्थ-व्याप्ति के लिए भावों को बहुत गौर से बरतने में तल्लीन दिखाई पड़ती हैं।

बेगम अख़्तर की गायिकी के इस वैभव के नज़दीक जाने के लिए उनके जीवन के नज़दीक जाना अनिवार्य है। अंतिम दिनों में एक उद्घोषिका ने रेडियो पर उनको बेग़म अख़्तर कह कर सम्बोधित कर दिया था तो बेगम ने उससे कहा था- 'बेटी पूरी ज़िंदगी तो ग़मों के बीच ही गुज़री है, मैं बेग़म कहाँ हूँ?' बिब्बी से अख़्तरी, अख़्तरी से अख़्तरीबाई फैज़ाबादी और अख़्तरीबाई फैज़ाबादी से बेगम अख़्तर बनने के उनके सफर में ग़म और गायिकी दोनों उनके हमसफ़र बने रहे। जन्म फैज़ाबाद के करीब भदरसा कस्बे में जुड़वा बहन के साथ 7 अक्टूबर 1914 को हुआ। नाम मिला बिब्बी उर्फ अख़्तरी। उनकी माँ मुश्तरीबाई अपने ज़माने की मशहूर गाने वाली थीं जबकि वालिद सैयद असग़र हुसैन सिविल जज थे, जिन्होंने मुश्तरी को किसी महफिल में सुना था और फिर दूसरी बीवी के तौर पर अपने घर ले आए थे। अख़्तरी अभी तीन साल की भी नहीं हुई थीं कि उनकी जुड़वा बहन अनवरी का इंतक़ाल हो गया और इसके थोड़े ही वक्त बाद उनके वालिद ने उनकी मां मुश्तरी को छोड़ दिया। मां पर पड़ी दुखों इस दोहरी मार को अख़्तरी ने भी बहुत छोटी उम्र में ही न केवल महसूस किया बल्कि उनके साथ-साथ भोगा भी। अख़्तरी की मां उनके सबसे नज़दीक थीं। उनकी पूरी शख़्सियत पर माँ की अटूट छाप दिखाई देती है। माँ ने तमाम खतरात और हवादिस के बीच जिस तरह अख़्तरी की तरबियत की वो भी अपने आपमें एक मिसाल है। आकाशवाणी के लिए बेगम अख़्तर के जीवन पर 'कुछ नक़्श तेरी याद के' जैसा चर्चित धारावाहिक लिखने वाले पत्रकार अटल तिवारी मुश्तरी के बारे में एक महत्वपूर्ण बात कहते हैं- 'मुश्तरी के जिस तरह का अविश्वसनीय संघर्ष अपनी बेटी का मुस्तकबिल संवारने के लिए किया वो उन्हे अपने आपमें किसी प्रेरणाप्रद नायिका की तरह सामने लाता है। उस वक़्त के समाज में बेटी को अकेले पालना,उसे कोठे की रिवायत से निकालने के लिए अलग अलग शहरों में ले जाकर बड़े बड़े उस्तादों से तालीम दिलवाना, बेटी की तालीम के लिए अपना सब कुछ बेच देना वगैरह इस बात की बानगी है कि मुश्तरी में किस दर्जे की दूरदर्शिता, प्रगतिशीलता और विद्रोह था.'

बचपन की पढ़ाई लिखाई में अख़्तरी का ज्यादा मन नहीं लगा अलबत्ता फैज़ाबाद के मिशन स्कूल में वो टीचर की चोटी काट देने

...औरत अच्छा गाती है तो 'बाई' कहलाती है

1924 में अख़्तरी माँ के साथ कोलकाता चली आईं, जो उस वक्त गीत-संगीत और नाटक का गढ़ था, फिल्म इंडस्ट्री भी वहीं थी। अता मोहम्मद से उनकी तालीम लंबे वक्त तक जारी रही। इसके बाद उन्होंने उस्ताद अब्दुल वाहिद खाँ और अंत में झंडे खाँ से सीखा। इस दरमियान अख़्तरी कोलकाता की छोटी-मोटी निजी नशिस्तों में जाने लगी थी। लेकिन कोलकाता ने उनकी गायिकी ने पहले-पहल धूम सिर्फ बीस साल की उम्र में 1934 में मचाई। जब भारत कोकिला सरोजिनी नायडू की मौजूदगी में उन्होंने बिहार भूकम्प पीड़ितों के सहायतार्थ एक आयोजन में स्थानापन्न कलाकार के बतौर गाते हुए कोलकाता के सैंकड़ों दर्शकों पर जादू कर दिया था। इस कार्यक्रम का कलकत्ता में बड़ा चर्चा हुआ और इसी के बाद अख़्तरी अख्तरीबाई फैज़ाबादी बन गईं। लेकिन गाने वाली बाइयों के साथ होने वाला व्यवहार उन्हें हमेशा सालता रहा। इस सिलसिले में उनका क़ौल मशहूर है- 'इस समाज को क्या कहा जाए? जहां मर्द अच्छा गाता है तो उस्ताद या पंडित कहलाता है और औरत अच्छा गाती है तो बाई कहलाती है.'

जैसे कारणों से ज़्यादा जानी जाती रहीं। लेकिन मां से नज़दीकी की वजह से गायिकी की तरफ बचपन से ही उनका संजीदा रूझान रहा। इसे देखते हुए मां ने मशहूर सारंगी वादक उस्ताद इमदाद अली खां से अख़्तरी को सिखाने को कहा। अख़्तरी ने अभी सीखना शुरू ही किया था कि फैज़ाबाद में उनका घर जला दिया गया। पतियों द्वारा छोड़ी जा चुकी तवायफों के ऊपर इस तरह के ख़तरे उन दिनों आम थे। फैज़ाबाद से दाना-पानी उठने के बाद मां बेटी ने बिहार के गया का रूख किया। गया पहुंचने के बाद मुश्तरी ने बेटी की संगीत शिक्षा की तरफ और संजीदगी से ध्यान दिया। गहने बर्तन बेच बेचकर उन्होंने बेटी को पहले सखावत हुसैन और फिर पटियाला घराने के उस्ताद अता मोहम्मद से तालीम दिलवाई। माँ के अलावा अखतरी की गायिकी पर बुनियादी असरात अता मोहम्मद के ही दिखते हैं। सीखा भी अख़्तरी ने सबसे ज़्यादा उन्हीं से।

जब पहली बार शोहरत को महसूस किया

1934 में ही मेगाफोन कंपनी के मालिक जे.एन. घोष ने उन्हें छह ग़ज़लें रिकॉर्ड करने का प्रस्ताव दिया जिसे अख़्तरी ने कुबूल कर लिया। दिलचस्प बात ये है कि अख़्तरी जब रिकॉर्डिंग के लिए स्टूडियो पहुंची तो उस पूरे दिन में तमाम कोशिशों के बावजूद सिर्फ़ एक ग़ज़ल रिकॉर्ड हो सकी। क्योंकि अख़्तरी को माइक्रोफ़ोन से डर लग रहा था। उन्होंने सुना था कि माइक के सामने गाने पर वो आवाज़ खीच लेता है, गाते वक्त ये ख़्याल आते ही उनकी लय बिगड़ जाती थी। इसलिए पहले दिन वो सिर्फ़ एक ग़ज़ल रिकॉर्ड कर पाईं लेकिन अगले दिन जब कंपनी वालों ने उन्हें समझाया-बुझाया तो उन्होने बाकी ग़ज़लें पूरे उत्साह से रिकॉर्ड करवाईं। रिकॉर्ड की गई उनकी पहली ग़ज़ल थी वो असीरे दामे बला हूँ। मेगाफोन द्वारा जारी किया गया ये रिकॉर्ड चल निकला और अख़्तरी ने पहली बार शोहरत को महसूस किया।

इसके बाद उनके ठुमरी,दादरे,चैती और ख़याल गायिकी के भी कई रिकॉर्ड्स निकले और कामयाब रहे। जिसके चलते 1936 में ऑल इंडिया रेडियो कोलकाता ने भी उन्हें रिकॉर्ड किया। इस बीच वो बतौर अभिनेत्री फिल्म और थिएटर में काम करना भी शुरू कर चुकी थीं। लैला मजनूं (1934) और नई दुल्हन (1934) उनके मशहूर नाटक थे। साथ ही नल दमयंती (1933) एक दिन का बादशाह (1933), मुमताज़ बेगम (1934), अमीना (1934), रूपकुमारी (1934) जवानी का नशा (1935), नसीब का चक्कर (1936) जैसी फिल्मों में मुख्य अभिनेत्री के बतौर काम करने के बाद उनकी शोहरत अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई थी और इसका सीधा फ़ायदा उनकी व्यावसायिक गायिकी की साख को हुआ था। मेगाफ़ोन कंपनी अब उनके रिकॉर्ड्स का बकायदा विज्ञापन जारी करती थी जिस पर उनका परिचय लिखा होता था- 'अख़्तरीबाई फैज़ाबादी फिल्म स्टार'. इस दौरान एक फिल्म कंपनी बिना उनका बकाया चुकाए बंद हो गई थी तो उन्होने उस पर मुकदमा करने की भी ठान ली थी। इसी सिलसिले में 1937 में लखनऊ के बैरिस्टर इश्तियाक़ अहमद सिद्दीक़ी से उनकी पहली मुलाक़ात हुई थी। लगभग इसी दौर में जानकीबाई, मलकाजान, अनवरीबाई, रसूलनबाई, अंगूरबाला, अनारबाला, जद्दनबाई (नरगिस की मां), राजकुमारी, ज़ोहराबाई अम्बालेवाली, खुर्शीद, जहांआरा और नसीमबानो जैसी तवायफ़ परंपरा से आने वाली कई मशहूर गायिकाएं थीं जिनके अपने अपने मुरीद थे। लेकिन थोड़े ही वक्त में जो शोहरत अख़्तरी ने कमा ली थी उसके मुकाबले ये सब मद्धिम पड़ रहीं थीं। अख़्तरी को अब हिन्दुस्तान के प्रमुख दरबारों से ख़ुसूसी न्योता भी मिलने लगा था। निज़ाम हैदराबाद ने उनके लिए सौ रूपए प्रतिमाह का वज़ीफ़ा मुक़र्रर कर दिया था तो नवाब रामपुर ने उन्हें अपने अरबाबे-कूचए निशात की ज़ीनत बनाया था। अख़्तरी अब आधा वक्त रामपुर में और आधा लखनऊ में गुज़ारने लगी थीं। अख़्तरी ख़ुद भी सरापा लखनऊ थीं।

वही विनम्रता वही तकल्लुफ़, वही अंदाज़-ए-बयां, वही सुखनफ़हमी, वही दरियादिली,वही नफ़ासत। अपनी मिट्टी अपनी तहज़ीब से वो गहरे जुड़ी थीं.अवधी ज़ायके की भरपूर शौक़ीन। पान और कैप्सटन सिगरेट भी उनके साथ हमेशा रहे। लखनवी चिकन की

फिल्मों में मुख्य अभिनेत्री के बतौर काम करने के बाद बेगम की शोहरत अप्रत्याशित रूप से बढ़ गई थी और इसका सीधा फ़ायदा उनकी व्यावसायिक गायिकी की साख को हुआ था। मेगाफ़ोन कंपनी अब उनके रिकॉर्ड्स का बकायदा विज्ञापन जारी करती थी जिस पर उनका परिचय लिखा होता था- 'अख़्तरीबाई फैज़ाबादी फिल्म स्टार'.

साड़ियां भी उनको बहुत भाती थीं। साड़ी वैसे भी उनका पसंदीदा लिबास था। लखनऊ में उनके तहज़ीबी रखरखाव का चर्चा भी उनकी गायिकी जैसा ही था। शायद इसी की वजह से दुनिया भर में उन्हें लखनवी तहज़ीब का हुस्न-ए-मुजस्सिम माना जाता था। वो खुद भी इसकी अहमियत बख़ूबी समझती थीं।

1938 में अख़्तरी ने लखनऊ में अपना ख़ुद का घर बनवाया। वो भी हज़रतगंज जैसे मुख्य इलाके के पास। ये कदम उनके रूतबे का पता देता है। क्यूंकि उस वक्त तक लखनऊ की ज़्यादातर गानेवालियां चौक या दूसरे इलाक़ों की गलियों में रहती आईं थी, हज़रतगंज के आस पास उनका क़याम कभी नहीं रहा था। अख़्तरी ने ये दस्तूर बदला। क्योंकि शहर के ज़्यादातर रईस हज़रतगंज के आस पास ही रहते थे अत: व्यावसायिक तौर पर ये जगह उनके लिए ज़्यादा मुफ़ीद थी। फिल्म अभिनेत्री होने के बावजूद उनकी ज़्यादा मज़बूत पहचान गायिका की ही थी। रामपुर दरबार से जुड़ जाने के बाद भी लखनऊ में वो महफ़िलों का हिस्सा लगातार बनी रहीं। मशहूर गायिका मालिनी अवस्थी बेगम की गायिकी के बारे में दो महत्वपूर्ण बातें हुए कहती हैं- 'पहली बात तो ये है कि वो जिस मिट्टी की थीं यानी लखनऊ-फैज़ाबाद उसके संगीत की तमाम विधाओं को उन्होंने इस ख़ूबी के साथ गाया कि वो सभी पूरी दुनिया में पहुंच गईं। ठुमरी, दादरा, चैती, होरी, कजरी, मर्सिया, ग़ज़ल सब कुछ। उन्होने अपने आपको कभी किसी एक विधा (जैसे ग़ज़ल) में महदूद नहीं किया। ये काम उनके चाहने वालों ने किया। दूसरी बात कि उन्होने कठिन चीज़ें भी जिस सहजता से गा दी हैं वो बताता है कि उनका अपनी आवाज़ पर कितना कमांड था।'

लड़कपन की शोखी संजीदगी में बदल रही थी

1940 के आसपास उनका फ़िल्मों से जी उचाट होने लगा था। क्योंकि उनके उस्ताद अता मोहम्मद और बाद में अब्दुल वहीद खां को फिल्मों में काम करना गायिकी के साथ अन्याय लगता था। दोनों इसके खिलाफ़ थे। नवाब रामपुर भी उनके फ़िल्मों में काम करने के पक्ष में नहीं थे। अत: महबूब खान की फिल्म रोटी (1942) के बाद उन्होंने फिल्मों से किनारा कर लिया। अब वो पूरा ध्यान अपनी गायिकी पर दे रही थीं। उम्र अब तीस के करीब पहुंच रही थी इसलिए लड़कपन की शोखी अब संजीदगी में बदल रही थी। ज़िंदगी एक दूसरे तरह का स्थायित्व चाह रही थी। नवाब रामपुर ने उनसे शादी करने की ख्वाहिश भी जताई लेकिन अख़्तरी ने ख़ुद को नाचीज़ कहते हुए प्रस्ताव ठुकरा दिया। उन्होंने अपने लिए लखनऊ के बैरिस्टर अब्बासी को चुना जिनसे उनकी पुरानी आश्नाई थी। दोनों एक दूसरे के क़ायल भी थे। मगर

बेगम दुनिया में गाने के लिए ही आईं थीं

उनकी मां ने उनको ढाला भी ऐसे ही था। बेगम के हज़ारों चाहने वालों को उनके गाना छोड़ने का रंज था लेकिन इस बात से सबसे ज़्यादा दुखी उनकी मां मुश्तरी ही थीं। उन्होंने अपना पूरा जीवन अख़्तरी के लिए वक़्फ़ कर दिया था। मुसीबतें उठा उठाकर उनको तालीम दिलवाई थी। यहां तक कि अख़्तरी जब स्टार बन गईं थी तब भी मुश्तरी उनके एक एक कदम का हिसाब रखतीं थीं और उनको गाहे-बगाहे सलाह भी देती रहती थीं। बेगम ने गाना छोड़ा तो उनकी मां पूरा पूरा दिन उनके रिकॉर्ड सुनती रहतीं और रोती रहतीं। खुद बेगम अख़्तर की हालत गाने के बिना बेहाल थी। अब वो अकेलेपन और अवसाद में घिर गईं थीं। जिसने धीरे धीरे कई बीमारियों को दावत दे दी थी। तबीयत जब ज़्यादा ख़राब हुई तो डाक्टरों ने उनके पति अब्बासी से कहा कि अब इन्हें गाने की इजाज़त दे दी जाए तभी कुछ उम्मीद है। आख़िरकार शौहर ने हारकर बेगम को वापस गाने के लिए कहा। इसके बाद बेगम ने चार साल के तवील अंतराल के बाद 1949 में आल इंडिया रेडियो के लिए रिकॉर्डिंग की।

संगीत के साथ जैसे उन्हें जीवन वापस मिल गया था। गाना दोबारा शुरू करते हुए उन्हें ये डर था कि पता नहीं इतने समय बाद वे गा भी पाएंगी या नहीं और लोगों पर उनका जादू वैसे ही चलेगा या नहीं। लेकिन जब उन्होंने गाया तो दोबारा उसी तरह की बेपनाह मकबूलियत पाई खासतौर पर इस दौर में गाई उनकी ग़ज़लों में तो एक अलग ही तासीर मिलती है। वो सारा दर्द जो उन्होने गायिकी से दूर रहकर बीमारी में भोगा इन ग़ज़लों में उजाले की तरह चमकता है। ऐसी तड़प उनकी पहले दौर की गायिकी में नहीं थी। हालांकि उसमें भी वो कशिश मौजूद है जो हमेशा बेगम अख़्तर की गायिकी का हुस्न बनी रही। हैरत की बात ये है कि गायिकी की वजह से ज़्यादातर कलाकार खाने पीने में जिस तरह का परहेज़ करते हैं वो भी उन्होंने कभी नहीं किया। वो अपनी आवाज़ को ख़ुदा की देन मानती थीं। इसी के चलते रिकार्डिंग के दिन भी अचार से लेकर आईसक्रीम तक सब चाव से खाती थीं और सिगरेट भी पीतीं थीं। उनकी शेरफहमी कमाल की थी। यही वजह है कि रागदारी की रियाज़त में भी उन्होंने शेर के हुस्न को बरकरार रखा। जब वो गा रही होतीं तो बैकग्राउण्ड में साज़िन्दों को साज़ लगभग गुम रखने की ताकीद थी ताकि शेर पूरा उभर कर आए। कम ही लोग जानते हैं कि मशहूर शास्त्रीय गायक उस्ताद बड़े गुलाम अली खां ने कुछ महफ़िलों में बेगम अख़्तर के लिए सारंगी पर संगत की है। तबला उनके साथ हमेशा मुन्ने खां ने बजाया। दूसरा काई उन्हें जंचता नहीं था। ग़ज़ल के अलावा उपशास्त्रीय संगीत की दूसरी विधाओं जैसे ठुमरी, दादरा और ख़याल गायिकी में भी उनका अंदाज़ एकदम मौलिक था। गायिकी में पंजाब और पूरब अंग का जैसा अद्भुत समन्वय उन्होने किया उसने बेगम अख़्तर को एकदम निराला बना दिया। हालांकि विशुद्ध शास्त्रीय गायन में उनकी ज़्यादा रूचि नहीं रही लेकिन ग़ज़ल और दूसरी चीज़ें गाते हुए वो बिल्कुल शास्त्रीय संगीत जैसा माहौल रच देती थीं।

अख़्तरी के गाने बजाने का पेशा अब्बासी और उनके बीच दीवार बना हुआ था। अब्बासी को हरगिज़ मंजूर नहीं था कि उनकी रफ़ीक़े हयात इस तरह सबके सामने गाना गाए। फिर एक दिन अख़्तरी ने फैसला कर लिया कि वो गाना छोड़कर अब्बासी का हाथ थामेंगी। हुआ भी ऐसा ही। 1945 में अख़्तरी बाई फैज़ाबादी बेगम अख़्तर बन गईं और गायिकी से उनका रिश्ता टूट गया।

1951 में कोलकाता में हुए संगीत सम्मेलन में भी उन्होंने शिरकत की जिसमें शास्त्रीय संगीत के बड़े बड़े पुरोधा हिस्सा ले रहे थे। यहां भी वो बेहद कामयाब रहीं। आमजन के अलावा कई पंडितों-उस्तादों ने भी उनकी जी खोलकर तारीफ़ की। भारत रत्न मरहूम बिस्मिल्ला खां ने एक दफा बेगम अख़्तर की गायिकी के बारे में बात करते हुए कहा था - 'बेगम अख़्तर के गले में एक अजीब कशिश थी.जिसे अकार की तान कहते हैं,उसमें अ करने पर उनका गला कुछ फट जाता था और ये उनकी खूबी थी। मगर शास्त्रीय संगीत में यह दोष माना जाता है। एक बार हमने कहा कि बाई कुछ कहो। ज़रा कुछ सुनाओ। वे बोलीं- अमां क्या कहें। का सुनाएं। हमने कहा कुछ भी। बेगम गाने लगीं-निराला बनरा दीवाना बना दे। एक दफे, दो दफे कहने के बाद जब दीवाना बना दे में उनका गला खिंचा तो हमने कहा अहा ! यही तो सितम है तेरी आवाज़ का। वो गला दुगुन-तिगुन के समय लहरा के मोटा हो जाता था। वही तो कमाल था बेगम अख़्तर में.'

सिनेमा, शोहरत और शागिर्द

दोबारा गाना शुरू करने के बाद जल्द ही बेगम की ज़िंदगी पटरी पर आ गई थी। उनके पास लगातार गाने के प्रस्ताव आ रहे थे। लेकिन इसी बीच 1951 में ही उनकी मां मुश्तरी की मौत के बाद वो तीन चार महीने फिर संगीत से दूर रहीं। सदमे में थीं। उनका ज़्यादातर वक्त लखनऊ के पसंदबाग़ स्थित अपनी मां की कब्र पर गुज़रा। उनकी ज़िंदगी में मां की भूमिका ही ऐसी थी जिसकी पूर्ति संभव नहीं थी। बहरहाल तबीयत कुछ संभली तो उन्होंने फिर से गाना शुरू किया।

1952 में बेगम अख़्तर ने आल इंडिया रेडियो के अखिल भारतीय संगीत समारोह में शिरकत की और समारोह लूट लिया। इसके बाद फिर से बेगम अख़्तर की शोहरत आसमान छूने लगी। रिकार्डिंग पर रिकॉर्डिंग होने लगीं। पूरे मुल्क में गाने के लिए बुलाई जाने लगीं। फिल्मों के ऑफ़र भी दोबारा आने लगे। मगर बेगम ने अभिनय पर हामी नहीं भरी। पार्श्वगायन भी नाचरंग (1953), दानापानी (1953) और एहसान (1954) जैसी कुछ ही फ़िल्मों के लिए किया। हालांकि जलसाघर (1958) में ज़रूर वो गायन के साथ साथ स्क्रीन पर भी दिखीं। क्योंकि ये अंतरराष्ट्रीय फलक पर पहचाने गए फिल्मकार सत्यजीत रे की फिल्म थी जिनके आग्रह को बेगम ठुकरा नहीं पाईं। अब उन्हे विदेशों से भी न्योते मिलने लगे थे। खुद भारत सरकार उनसे सांस्कृतिक प्रतिनिधि मंडल का सदस्य बनने का आग्रह कर चुकी थी। 1961 में भारत सरकार के सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडल में शामिल होकर बेगम पाकिस्तान गईं। वहां उन्होने ग़ज़लों के साथ साथ ठुमरी और दादरे का भी जादू चलाया। इस आयोजन में पहली बार बेगम को ये अंदाज़ा हुआ कि हिन्दुस्तान की सरहद पार भी लोग दीवानावार उनके संगीत को सुनते हैं। 1963 की अफ़गानिस्तान और 1967 की रूस यात्रा में भी वो इसी तरह सब पर ग़ालिब रहीं। इस बीच एक के बाद एक उन्होने कई विदेश यात्राएं कीं।

खुद एक तजुर्बेकार गायिका के रूप में स्थापित होने के बाद बेगम ने अपना तजुरबा नई पीढ़ी को देने का मन भी बनाया। लड़कियां गाना सीखें इस बात के लिए वो हमेशा पेश रहीं। उनकी मां ने उन्हें गाना सिखाने के लिए जो संघर्ष किया था वो उसे भूली नहीं थीं। मां के इंतक़ाल के बाद उन्होने विधिवत लड़कियों को तालीम देना शुरू किया। संगीत के क्षेत्र में गण्डा बन्धन की परम्परा का बड़ा महत्व है। 1952 में बेगम अख़्तर पहली महिला उस्ताद बनीं, जिन्होने अपनी शिष्याओं का गण्डा बन्धन किया। बेगम ने सबसे पहले शांति हीरानंद और अंजलि चटर्जी को गंडा बांधकर सिखाना शुरू किया। उसके बाद दूसरी गायिकाओं ने भी अपनी शिष्याओं के गण्डा बन्धन शुरू कर दिया।

शोहरत से इतर 1950 से 1974 का दौर उनकी गायिकी की शिनाख़्त के लिहाज से उनका सबसे मज़बूत दौर था और काम के लिहाज से व्यस्ततम। देश-विदेश में अब वो हिन्दुस्तानी उपशास्त्रीय गायन का सबसे बड़ा नाम थीं। 1968 में भारत सरकार ने संगीत में उनके योगदान के लिए उन्हे पद्मश्री से सम्मानित किया। 1972 में

बेगम का सिखाने का तरीका भी नए ढंग का था। अकेले कमरे में सीखने वाले को बैठाकर रियाज़ करवाने की वो क़ायल नहीं थीं। वे शिष्याओं को अपनी महफिल में साथ ले जातीं थीं और अपने साथ साथ गाने को कहती थीं, और इसके बाद अगर ख़ास ज़रूरत पड़ी तो अलग से भी सिखाती थीं। अख़्तर की शिष्याओ में शांति हीरानंद, अंजलि चटर्जी, रीता गांगुली,ममतादास, शिप्रा बोस आदि हैं। महाराज हुसैन निशात और सग़ीर खां आदि के रूप में उनके कुछ शिष्य भी रहे। बेगम खुद इस्लाम में आस्था रखती थीं लेकिन मजहबी भेदभाव से कोसों दूर थी। उनकी शिष्याओं में ग़ैर-मुस्लिम लड़कियां ही अधिक रहीं। रीता गांगुली को तो वो सिद्धेश्वरी देवी से उनके घर जाकर शिष्य बनाने के लिए मांग लाईं थीं। जबकि सिद्धेश्वरी देवी और बेगम अख़्तर के सम्बन्ध बहुत अच्छे नहीं थे। शिष्यों की तरह ही अपने गुनी श्रोताओं और चाहने वालों को भी वो बेपनाह मोहब्बत से नवाज़ती थीं। एक बार वे इन्दौर तशरीफ़ लाईं और मालूम पड़ा कि उनके मुरीद रामू भैया दाते फ्रेक्चर के कारण इन्दौर के महाराजा यशवंत राव होलकर चिकित्सालय में भर्ती हैं तो वे स्टेशन से सीधे एम.वाय. पहुँची और वहाँ अस्पताल की चादर ज़मीन पर बिछा कर हारमोनियम खोल कर रामू भैया को ठुमरी सुनातीं रहीं। आज के दौर में किसी स्टार से ऐसे व्यवहार की कल्पना करना भी मुश्किल है।

उन्हे केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी अवार्ड और 1973 में उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी अवार्ड मिला। देश के दूसरे बड़े संगीत संस्थानों ने भी उन्हे सम्मानित किया। उनके शहर लखनऊ के मशहूर भातखण्डे संगीत संस्थान ने उन्हे प्रोफेसर का पद दिया। कामयाबी की इस मसरूफ़ियत के बीच उनका स्वास्थ्य भी उन्हे अपनी अहमियत की चेतावनी देता रहा। 1967 में उन्हे दिल का पहला दौरा पड़ा। ठीक होने के तुरंत बाद वे फिर गाने लगी। जीवन के आखिरी साल 1974 में दोबारा उन्हे दौरा पड़ा। स्वास्थ्य संभला तो फिर गायिकी शुरू। असल में गायिकी से दूर रहना उनके बस का ही न था। अक्टूबर 1974 में उन्होने आकाशवाणी बंबई के सम्मेलन में शिरकत की और अपने इंतक़ाल के एक हफ्ते पहले आकाशवाणी के लिए अपनी आखिरी ग़ज़ल 'सुना करो मेरी जां...' रिकार्ड की। ये उन्ही कैफ़ी आज़मी का कलाम था जिन्होने बेगम अख़्तर की गायिकी से मुतासिर होकर ही दोबारा ग़ज़लें कहना शुरू किया था। 30 अक्टूबर 1974 को अहमदाबाद के एक कार्यक्रम में गाते हुए एक बार फिर उन्हें दिल का दौरा पड़ा और इसी रात उनका इंतक़ाल हो गया। 1975 में भारत सरकार ने बेगम अख़्तर को मरणोपरांत पद्मभूषण से सम्मानित किया।

कहा जाता है कि लखनऊ में तो उनका एक चाहने वाला बेगम की मौत की खबर सुनकर पागल हो गया था और लखनऊ की दीवारों पर हाय अख़्तरी! हाय अख़्तरी! लिखता उसी तरह सड़कों पर भटकता था जिस तरह मजनूं दश्त में। अख़्तरी का ये दीवाना असल में एक सब्ज़ी-फरोश था जो हैवलक रोड के आसपास से अपना ठेला लेकर गुज़रते हुए आवाज़ लगाता था- 'अख़्तरी के बाग़ की सब्ज़ी ले लो.'

उनके निधन की खबर सुनकर दुनिया भर में उनके प्रशंसकों की हालत बुरी थी। कहा जाता है कि लखनऊ में तो उनका एक चाहने वाला ये खबर सुनकर पागल हो गया था और लखनऊ की दीवारों पर हाय अख़्तरी! हाय अख़्तरी! लिखता उसी तरह सड़कों पर भटकता था जिस तरह मजनूं दश्त में। अख़्तरी का ये दीवाना असल में एक सब्ज़ी-फरोश था जो हैवलक रोड के आस पास से अपना ठेला लेकर गुज़रते हुए आवाज़ लगाता था- 'अख़्तरी के बाग़ की सब्ज़ी ले लो.' बेगम की इच्छा के अनुरूप उन्हें लखनऊ के ही पसंदबाग़ स्थित अपनी मां की कब्र के पड़ोस में दफ़नाया गया। बेगम की मौत के बाद लंबे समय तक ये जगह लगभग उपेक्षित रही। इसकी हालत देखकर ऐसा लगता था कि मानो बैकग्राउंड में बेगम की ग़ज़ल बज रही हो- 'अब तो यही हैं दिल से दुआएं,भूलने वाले भूल ही जाएं...। 'उनके जन्मस्थान भदरसा में भी वो लगभग बिसरा दी गई हैं। लखनऊ तो लोग खास बेगम अख़्तर का मज़ार देखने की ख्वाहिश लिए आते रहे और निराश होकर लौटते रहे। आस पास के लोगों तक को इसके बारे में जानकारी नहीं थी। फिर अभी तीन साल पहले लखनऊ की जानी-पहचानी सामाजिक संस्था 'सनतकदा' ने बेगम की शिष्या शांति हीरानंद और इतिहासकार सलीम किदवई के सहयोग से उनके मज़ार का जीर्णोद्धार और सौन्दर्यीकरण करवाया। साथ ही इस बात के लिए भी प्रयास किया कि इस जगह के बारे में ज़्यादा से ज़्यादा लोग जानें। फेसबुक पर भी बेगम अख़्तर के मज़ार का एक पेज बनाया गया। संस्था के ही प्रयास से हर साल बेगम के जन्मदिन पर यहां सगीत की एक नशिस्त भी आयोजित होती है, जिसमे शुभा मुद्गल और शांति हीरानंद आदि बेगम को श्रद्धांजलि दे चुकी हैं।

तकरीबन चालीस साल की अपनी गायिकी में बेगम अख़्तर ने जिस चीज को गा दिया वो अमर हो गई। बहज़ाद लखनवी कहा करते थे कि वो हश्र तक सिर्फ इसी वजह से याद रखे जाएंगे क्योंकि बेगम अख़्तर ने उनको गा दिया। बेगम अख़्तर जब पहली बार पाकिस्तान गईं और मेज़बानों ने उनसे पूछा कि आपकी क्या खिद्मत की जाए तो बेगम ने बहज़ाद लखनवी से मिलने की ख़्वाहिश जताई और मिलीं भी। उन्होंने बहज़ाद की कई ग़ज़लें गाईं जिनमे 'दीवाना बनाना है तो दीवाना बना दे' सबसे कामयाब हुई। सिर्फ बहज़ाद ही नहीं उस दौर के तमामतर शाइरों की ख़्वाहिश ये थी कि बेगम अख़्तर उनका कलाम गा दें। 1970 में जब शकील बदायूंनी बीमार पड़े और मृत्युशैय्या पर उन्होंने अपनी आखिरी ग़ज़ल मेरे हमनफ़स मेरे हमनवा कही तो उनकी भी आखिरी ख्वाहिश यही थी कि बेगम अख़्तर उनकी इस ग़ज़ल के साथ इंसाफ़ कर दें। बेगम अख़्तर ने शकील की आखिरी ख्वाहिश का एहतराम करते हुए इस ग़ज़ल को यूं गाया कि ये ग़ज़ल हमेशा के लिए बेगम अख़्तर की पहचान बन गई। शकील के साथ बेगम अख़्तर के कुरबत के मरासिम थे। बेगम ने शकील की कई ग़ज़लें गाईं जिनमें ऐ मोहब्बत तेरे अंजाम पे रोना आया, ज़िंदगी का दर्द लेकर इंक़लाब आया तो क्या वगैरह बहुत कामयाब हुईं। कैफी से उनके रिश्ते की बात पहले हो चुकी है। फ़ैज़ एवं मजरूह के कलाम को भी उन्होने गाकर मकबूलियत दी। कुछ तो दुनिया की इनायात के साथ सुदर्शन फाकिर को भी बेगम अख़्तर ने जाविदां कर दिया।

समकालीनों के अलावा बेगम ने क्लासिकी शोअरा को भी पूरी शिद्दत से गाया। मीर, ग़ालिब, ज़ौक और मोमिन को पहली बार आवाम के बीच उनकी गायिकी ही ले गई। वो जो हममें तुममें क़रार था..., उल्टी हो गईं सब तद्बीरें... और ज़िक्र उस परीवश... की कशिश कौन भूल सकता है। ग़ज़ल गायिकी को एक स्वतंत्र विधा के तौर पर स्थापित करने में बेगम अख़्तर का अमर योगदान है। उन्होंने ग़ज़ल को कोठे से आज़ाद कराया।

सुर, सृष्टि की सबसे पावन अमानत है। निःसंदेह यह एक ईश्वरीय करिश्मा है जो हम संसारियों के कानों तक आता है और हम सबको अपनी रुहानी गंध से सुरभित कर जाता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की सुदीर्घ विरासत में ऐसे महान कलावंतों का शुमार है जो अपनी परम्परा और घराने में अभिवृद्धि करते हुए स्वर रसिकों को आह्लादित करते रहे हैं। समय का तकाज़ा है कि शोर सुर पर हावी होता जा रहा है। शास्त्रीय संगीत का अनुसरण करने वाले फ़नक़ारों से ग्लैमर अछूता नहीं है। जब सब कुछ बदल रहा है तो बिलाशक कलाकार भी बदलता ही है। कुछ अपवाद हैं जो वंदनीय हैं। वे अपनी कलाशैली और जीवनशैली पर कामय रहते हुए संतुष्ट हैं। कार्यक्रम, शोहरत और इनाम-इक़राम आए तो ठीक; न आए तो और भी ठीक। वे अपने एकांत में प्रसन्न हैं और मानते हैं कि हमें तो उस परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा को ही अपने सुरों का अर्घ्य चढ़ाना है। वे ज़माने की फ़ितरत से बेख़बर सुर और शास्त्र की शुद्धि के लिए प्रतिबद्ध हैं।

परमात्मा को ही सुरों का अर्घ्य चढ़ाना है

संजय पटेल

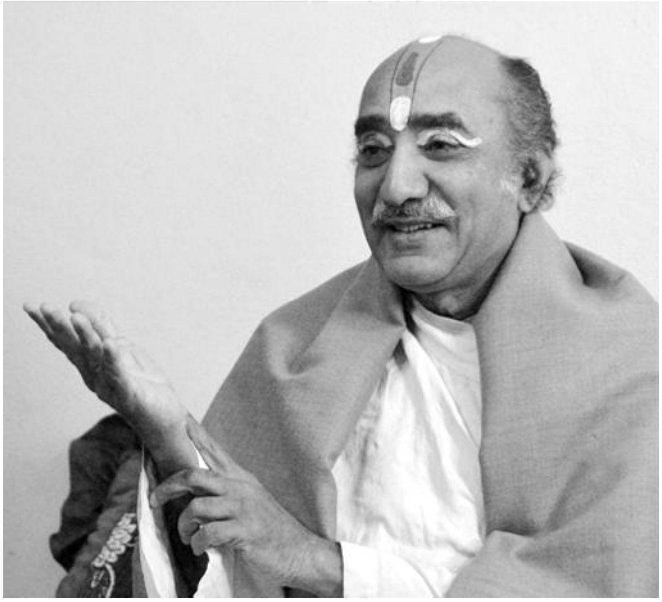

स्वर सारथी गोकुलोत्सव महाराज

इस उद्गार को सुनकर निश्चित रूप से किसी के भी मन में अत्यंत पूजनीय कलावंत आचार्य गोस्वामी गोकुलोत्सवजी का स्मरण आना स्वाभाविक है। वे 2008 में पद्मश्री से सम्मानित किए गए और अब उन्हें पद्मभूषण से नवाज़ा गया है। महाराजश्री भारतीय शास्त्रीय संगीत की नाद परम्परा का विरल स्वर तो हैं ही, वे वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के परम आचार्य भी हैं। सर्वविदित है कि पुष्टिमार्ग में भगवान श्रीनाथजी की आराधना में रचित पद भारतीय शास्त्रीय संगीत की राग-रागिनियों पर आधारित है। मराठी नाट्य संगीत, बांग्ला रवीन्द्र संगीत और दक्षिण भारत के त्यागराज की संगीत परम्परा के सदृश्य ही पुष्टिमार्ग में हवेली संगीत गायन की सुदीर्घ परम्परा है। हवेली संगीत में अष्ट छाप के कवियों द्वारा रचित पदों को गाने का अनुशासन है। गोकुलोत्सवजी को हवेली संगीत घुट्टी में मिला। आपके पूज्य पिताश्री गिरधरलालजी भारतीय शास्त्रीय संगीत के नष्णात कलाकार थे। हवेली संगीत में वीणा, पखावज वादन तथा ध्रुपद गायन की परम्परा रही है। गोकुलत्सवजी भी शुरुआत में पखावज वादन की ओर ही मुखातिब हुए और एक बेहतरीन कलाकार के रूप में उनकी ख्याति हुई। आकाशवाणी की राष्ट्रीयता ने भी वे स्वर्ण पदक से सम्मानित किए गए।

साठ का दशक आते-आते गोकुलोत्सवजी ख़याल गायकी से मुतास्सिर हुए। इस बीच उन्होंने इन्दौर के शासकीय संगीत महाविद्यालय के प्राचार्य एवं ग्वालियर घराने के स्वर-साधक पं. मोरेश्वरराव गोलवलकर से क्लासिकल मौसिक़ी की बारीकियों को समझना शुरू किया। यह बता देना बहुत आवश्यक होगा कि इन्दौर के गोर्धनाथ मन्दिर में श्रेष्ठ हिन्दू-मुस्लिम कलाकारों की आवाजाही बनी रहती थी। भगवान के दर्शन के समय गायन-वादन की जो रिवायत है उसके मुताबिक कई कालाकार मन्दिर परिवार से जुड़े भी हुए थे। उस्ताद अमीर ख़ाँ के वालिद शहमीर ख़ाँ साहब सारंगी वादक एवं उस्ताद मुराद ख़ाँ के चश्मे-चराग़ उस्ताद बाबू ख़ाँ साहब बीनकार भी उन कलाकारों में शामिल थे। अपने पिता के साथ बालक अमीर ख़ाँ मन्दिर परिसर में नियमित रूप से आते-जाते थे। कालांतर में जब उनकी ख्याति एक लब्ध-प्रतिष्ठित गायक के रूप में हो गई तब उनके ग्रामोफोन रेकॉर्ड्स का संकलन मन्दिर परिवार में उपलब्ध था। ख़ाँ साहब के अलावा उस्ताद अब्दुल वहीद ख़ाँ (बेहरे) और उस्ताद रजब अली ख़ाँ (देवास) के गायन के प्रति गोकुलोत्सवजी के हृदय में ख़ासा रुझान था। उन्हें इन सभी कलाकारों की पेशकश मोहती थी। अमीर ख़ाँ साहब का अलौकिक स्वर भी इस फ़ेहरिस्त में सम्मिलित

था। ख़ाँ साहब की मेरुखण्ड गायकी और धीर-गंभीर स्वर आचार्यश्री को रोमांचित करती थी। कहना ग़ैर मुनासिब नहीं होगा कि गोकुलोत्सवजी के मन और मानस पर अमीरख़ानी गायकी का रंग चढ़कर बोला। आचार्यश्री के कंठ में विराजित खराज को जैसे एक 'अमीर-सुर' की ही तलाश थी। आचार्यश्री बहुत विनम्रता से स्वीकारते हैं कि मैं अमीर ख़ाँ साहब की गायकी में अपने गायन का इन्तेख़ाब तो ज़रूर करता रहा लेकिन कभी भी मैंने उसका अनुगामी होना या उत्तराधिकारी होना क्लेम' नहीं किया। महाराजश्री का यह भी मानना है कि हर गायक का कंठ (जिसे आजकल प्रचलित भाषा में जॉनर कहा जाने लगा है) एवं उपज ईश्वरीय देन है। वैसे भी कोई किसी गायन परम्परा का उत्तराधिकारी नहीं हो सकता है। हाँ, रागों की विरासत को ज़रूर अगली पीढ़ी के गायक साधते हैं और ज़ाहिर है कि इस दौरान उनके पूर्ववर्ती गायकों की छाया वर्तमान प्रस्तुतियों में नज़र आए।

अमीर ख़ाँ साहब और गोकुलोत्सवजी की गायकी में मौजूद साम्य के बारे में कई जिज्ञासु विचलित रहते हैं। महाराजश्री बहुत निश्छलता और सरलता से इसका जवाब देते हैं। वे कहते हैं कि पुष्टिमार्ग में रची गई कई बंदिशों का गायन विभिन्न घरानों में होता आया है। स्वयं ख़ाँ साहब ने राग दरबारी (ऐ री मोरी आली) और राग केदार (बन ठन कहाँ जू चले) जैसी कुछ बंदिशें बड़े अनुराग के साथ गाई हैं। किशनगढ़, उदयपुर, भुज जैसी रियासतों में भी ख़ाँ साहब को राजाश्रय मिला। ये सभी रियासतें वैष्णव मत का अनुसरण करती थी। अमीर ख़ाँ साहब ने लोकप्रिय हिन्दी चित्रपटों 'झनक-झनक पायल बाजे' एवं बैजू बावरा के अतिरिक्त वल्लभ सम्प्रदाय की दो महत्वपूर्ण तस्वीरों जय श्रीकृष्ण एरं राधा प्रिय प्यारी' में भी अपनी गायकी का जलवा बिखेरा है। इन तथ्यों से जिज्ञासुओं को समझ जाना चाहिए कि मेरे मन में अमीर ख़ाँ साहब के प्रति श्रद्धा क्यों है। यह तो है ही कि वे एक महान एवं विलक्षण फ़नक़ार थे और उनकी ध्वनिमुद्रिकाओं को मन्दिर परिसर में सुनना मुझे भी आनंद से भरता था। निश्चित ही मुझे अपनी ख़याल गायकी के लिए एक रास्ता ख़ाँ साहब की गायकी में नज़र आया जिसको मैंने अपने रियाज़ एवं गुरुजनों के मार्गदर्शन से नवीनता देने का लगातार प्रयास किया।

पं. गोकुलोत्सवजी न केवल एक गायक हैं, वे वेदों के अनन्य ज्ञाता, यूनानी एवं आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के जानकार, संस्कृत, फारसी, अरबी, उर्दू, बृज, अवधि, गुजराती भाषा के गूढ़ ज्ञाता भी हैं। उन्होंने मधुरपिया' नाम से शास्त्रीय संगीत की कई बंदिशों की रचना की है। यह बदिशें देशभर के कलाकार बड़ी श्रद्धा से गा रहे हैं। उनके बंदिशकार होने का उल्लेख पं. अमरनाथ (उस्ताद अमीर ख़ाँ साहब के पट्ट शिष्य) की पुस्तक 'लिविंग इडियम्स इन हिन्दुस्तानी म्युजिक' में भी मिलता है। महाराजजी रचित रागमाला जिस देस में बहत जल गंग, यमुना (यमन) पवित्र नदी हरि संग' भी लोकप्रिय है जिसमें ध्रुपद एवं ख़याल गायकी का सुन्दर मेल प्रकट होता है। महाराजश्री का विरल स्वर उनकी कुदरती उपज के साथ एक रुहानी ज़मीन को रचता है। उनका मानना है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में निहित भक्ति का भाव उसकी सबसे बड़ी ताक़त है। आज भी हमारी अधिकतम बंदिशें भक्ति मार्ग का अनुसरण करती है और मजे की बात यह है कि हर सम्प्रदाय और मज़हब को मानने वाले कलाकार उसे पूरी निष्ठा और प्रतिबद्धता से पेश करते हैं। यही हिन्दुस्तानी संगीत की समरसता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस बारे में वे गोवर्धननाथ मंदिर परिसर में हुए एक वाक़ये का ज़िक्र करते हैं जिसमें एक सम्पन्न वैष्णव भक्त ने वीणा वादन कर रहे उस्ताद मुराद ख़ाँ साहब को इसलिए अपमानित कर दिया था कि वे मुस्लिम सम्प्रदाय के कलाकार थे। ऐसा होते ही भगवान गोवर्धननाथजी पर सजाया गया श्रृंगार ज़मीन पर आ गया। अंततः उस भक्त को अपनी गलती का अहसास हुआ। महाराजश्री कहते हैं कि कला समन्वय और सौहार्द की भावभूमि रचती है। वह जोड़ती है और हमें बेहतर मनुष्य भी बनाती है।

आचार्य गोकुलोत्सवजी यानी भारतीय शास्त्रीय संगीत का वह जगमगाता कलश जिसके स्वर में सिद्धि है और जो प्रसिद्धि से विलग रहता है। आचार्य गोकुलोत्सवजी की पंथ परम्परा उन्हें संगीत की आत्मा में उतर जाने को प्रेरित करती है औह उनके कंठ से सिरजता है एक ऐसा नाद जो सुनकर को अनहद से साक्षात्कार करवाता है। उनका निर्विकारी-निराभिमानी व्यक्तित्व हमें सिखाता है कि एक वरिष्ठ गायक की गरिमा क्या होती है। महाराज्री के गायन में प्रदर्शन नहीं; दर्शन (फिलॉसॉफी) नज़र आता है। उनका स्वर श्रोता और गायक के बीच का ऐसा निराकारी सूत्र है जो भारतीय शास्त्रीय संगीत की पावनता और प्रतिष्ठा को क़ायम रखता है और जिसकी ध्वजा के स्वर-सारथी हैं आचार्य गोकुलोत्सवजी महाराज।

गोकुलोत्सवजी यानी भारतीय शास्त्रीय संगीत का वह जगमगाता कलश जिसके स्वर में सिद्धि है और जो प्रसिद्धि से विलग रहता है। आचार्य गोकुलोत्सवजी की पंथ परम्परा उन्हें संगीत की आत्मा में उतर जाने को प्रेरित करती है

आचार्य सान्निध्य : महाराजजी के साथ लेखक संजय पटेल

एक अनश्वर चितेरा

त्रिवेन्द्रम से पच्चीस किलोमीटर दूर किल्लीमनूर से निकलकर त्रावणकोर पहुँच कर एक पच्चीस वर्षीय युवक वियना की चित्र प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक हासिल करता है। उन्नीसवीं सदी के योरपीय यथार्थवादी शैली में वह ऐसी दक्षता के साथ काम करता है कि समूचे कला जगत को हतप्रभ कर देता है। उल्लेखनीय यह थी कि उसने कला के किसी भी संस्थान से अकादमिक शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। वह पूरी तरह आत्म- दीक्षित कलाकार ही था, जबकि, वह निष्णात जलरंगों में था और तैलरंगों को वही भारत में पहली बार इस्तेमाल कर रहा था। उसने वीणा बजाती हुई एक भारतीय स्त्री का चित्रांकन किया था। रंग की 'स्प्रेस क्रिएटिंग प्रापर्टी' का जो दोहन उसने किया था, वह किसी भी योरोपियन महत्वाकांक्षी चितेरे के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता था और हुआ भी यही कि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के 'कमीशंड आर्टिस्टों' ने इस चित्रकार को ताउम्र अहमियत नहीं दी। और, कहने की ज़रूरत नहीं कि यह चित्रकार था- राजा रवि वर्मा।

प्रभु जोशी

चित्रकार राजा रवि वर्मा पर लिखते हुए मुझे लगभग आधी शताब्दी के पहले के वक्त का वह हिस्सा याद आ रहा है, जिसमें ईश्वर से मेरे तअल्लुकात आज की तरह खराब नहीं हुए थे। अलबत्ता इसके उलट यह था कि मेरे संकटों के 'महाघोर' समय में, वह खुद पहल करता और इमदाद के लिए आगे आ जाता था। मसलन, जब कभी मेरे बस्ते में पेंसिल गुम जाती, पानी-पोते की शीशी फूट जाती या फिर कंचों के खेल में तकरीबन हारने की नौबत आ जाती -तब मैं क्षण भर ठिठक के आँख मूंद कर, बुदबुदाते हुए ईश्वर को बेकरारी के साथ याद करता- और, वह घर की अल्मारी में रखे, 'गीताप्रेस गोरखपुर' के कल्याणों के चित्रों में से कमोबेश भागकर आता और मेरी बंद पलकों के नीचे 'तथास्तु' की मुद्रा में मुस्करा कर गायब हो जाता। मैं आँखें खोलकर फिर से खेल में स्वयं को एकाग्र करता और धीरे-धीरे हारने की 'कगार' से ऊपर उठकर जीत के शिखर पर चढ़ जाता।

दोस्त 'जै-जैकार' कर उठते, जो मुझे अपनी जीत से ज्यादा ईश्वर की जय-जयकार लगती। कभी-कभार, कंचों और कबड्डियों से बचे वक्त में फटी-पुरानी निकरों और थेगलेदार कमीजों में रहने वाले मेरे दोस्तों की जिज्ञासा बलवती हो जाती और वे पूछते कि 'आँख मूंदने पर क्या मुझे 'भगवान' दिख जाते हैं?' और दिखते हैं, तो वे कैसे हैं?' मैं उन्हें फटाफट भगवान की आबादी, उनके कुनबे और शक्ल सूरत के बारे में ऐसे रोचक और प्रामाणिक ब्यौरे देता कि वे सबके सब हतप्रभ रह जाते, क्योंकि मेरे तमाम दोस्तों के पास ईश्वर की शिनाख्त के रूप में, गाँव में सिंदूर के पुते पत्थर और पेड़ों के तनों के पास गड़े, अनगढ़ आकार भर थे, जबकि मेरे द्वारा दिए गए

राजा रवि वर्मा भारतीय कलाजगत में एक ऐसे समय में अवतरित हुए थे, जब कला के सिर्फ दो छोर थे- एक तो था, 'शास्त्र'; जो सामंतयुगीन उच्चवर्ग के अधीन था और दूसरा था 'लोक'; जो ग्रामीण जनसमुदाय के बीच ही अपना सर्वस्व जोड़े हुए था। शास्त्र के नाम पर दो-तीन स्पष्ट वर्गीकरण थे। मसलन, चित्रांकन की राजपूत शैली तथा मुगल कलमकारी। लेकिन, दोनों शैलियाँ ही अपने शानदार अतीत का वैभव खोना शुरू कर चुकी थीं। वे एक ध्वंस का सामना कर रही थीं।

विवरण एकदम अलौकिक थे, क्योंकि उनमें भगवान् के पंखुरियों से होंठ थे। कमलनाल-सी कोमल कलाइयाँ। गुलाबी तलवों वाले पैर। कुल मिलाकर, 'नख से शिख' तक दिव्यता का सृजन करने वाली कमनीय काया। मुझे आज भी याद है कि मैंने, जब कल्याण में देखे गए चित्र के आधार पर राधाजी के रूप का बखान किया था तो मेरा सहपाठी प्रह्लाद रोमांचित होकर बेसाख्ता बोला था- 'प्रभु, म्हारे राधाजी दिखी जाए तो हूँ तो उनके छू लूँ और बस मरी जाऊँ।' अर्थात् राधा का सौंदर्य इतना अनिंद्य अलौकिक और अलभ्य लगा था, अपने उस सहपाठी के बालमन को कि स्पर्श की कामना को पूरी होने के बाद शेष-जीवन को जीने की निरर्थता का बोध पैदा करने वाला था।

दरअसल, भगवानों के हुलियों के बखान की कुव्वत मुझमें पिता द्वारा गीताप्रेस गोरखपुर से मंगवाई गई कोई आधा दर्जन उन चित्रावलियों से आई थी, जिनमें भारतीय मिथकीय अवतारों के तमाम ढेरों चित्र थे। मैंने धीरे-धीरे करके अपने सभी दोस्तों को वे चित्रावलियाँ दिखाई थीं। बाद इसके हम सारे के सारे दोस्त उन अलौकिक भगवानों को निकट से जानने वालों में से हो गए।

हमारे लिए वे चित्र ही ईश्वर के चेहरे-मोहरे और कद-काठी के सर्वथा प्रामाणिक और अंतिम दस्तावेज थे। हम अपनी नींदों में भी उनके साथ रहने लगे थे, लेकिन तभी एक दिन अचानक हम सबको गहरी ठेस लगी। उस ठेस से मेरे भीतर एक अजीब-सी बेकाबू रुलाई उठी, जो आज तक मेरे भीतर जीवित है। मेरे ही नहीं, कदाचित् मुझसे पहले पैदा हुए कई-कई लोगों के भीतर भी बचपन की कुछेक रुलाइयाँ जीवित होंगी। उस ठेस में जितना मर्मभेदी और दारुण दुःख था, साथ ही साथ उतना ही विस्मय भी था।

हुआ यों कि गाँव में सतनारायण महाराज का काँच में मढ़ा हुए कोई बड़ा-सा चित्र उज्जैन से लाया गया था। चित्र ऐसा अनोखा था कि खबर सब दूर हो गई थी। क्योंकि यह छोटे-से गाँव की ऐतिहासिक घटना थी। तब तक हमारे आसपास के गाँवों में कैलेण्डर जैसी चीज ने प्रवेश तक नहीं किया था।

मैंने भी अपने दोस्तों की मंडली को पूरे गाँव में फैल चुकी इस घटना की सूचना तुरत-फुरत पहुँचाई और सबको एकत्र करके लगभग उस छोटे-से जत्थे के नेतृत्व का दायित्व अपने कंधे पर लेकर उस चित्र को देखने गया। हमने देखा और यक-ब-यक हुआ यह कि चित्र को देखते ही हम सबों के भीतर के अलौकिक-संसार में अफरा-तफरी मच गई। हमने एक-दूसरे की तरफ कुछ इस तरह हक्के-बक्के होकर देखा, गालिबन पूछना चाहते हों कि यह क्या हो गया? दरअसल सामने टंगे चित्र में दिखाई दे रहीं 'राधाजी' तो कोई दूसरी ही 'राधाजी' थीं। अभी तक हमारे द्वारा देखी और लगभग निकट से बखूबी जान ली गई राधाजी से बिल्कुल अलग। न तो पंखुरी जैसे होंठ। न चिंतामणि-सी अलौकिक देह। न दिव्य और दीप्त त्वचा। बल्कि उनकी त्वचा, उल्टे हमारे घर की बंइराओं स्त्रियों जैसी थी, जिनकी त्वचा से पसीना भी टपकता है। और इससे भी ज्यादा तो विस्मय करने वाली बात यह थी कि जैसे कृष्ण की बगल में 'राधाजी' की जगह पड़ोस वाली 'मनोरमा भाभी' ही साड़ी लपेट कर बैठ गई है? और येल्लो! उन्होंने भी हड़बड़ी में पल्ला भी उल्टा ही ले लिया है। उल्टे पल्ले वाली साड़ी पहनी स्त्री तो हमने अभी तक गाँव में देखी तक नहीं थी। कृष्ण भी मेरे पास की चित्रावलियों जैसे 'प्रकट हो सकने वाले' कृष्ण नहीं थे- देवत्व से बिलकुल रहित। वे 'राधाजी की तरफ कुछ ऐसी दृष्टि से देख रहे थे कि यदि हम लोगों ने उनकी तरफ से तनिक भी आँखें फेरीं कि वे मौके का लाभ उठाकर राधाजी के गाल को चूम लेंगे। ऐसी दृष्टि से देखने वाले बिना लिहाज के उन कृष्ण को देखकर, शर्म हमें आने लगी थी।

और अब हम चुपचाप मुँह लटका कर लौट रहे थे। हम

उनकी कृतियाँ धीरे-धीरे पूरे देश में लोकप्रिय होने लगीं, जबकि भारतीय कलाजगत उन्हें निरन्तर निरस्त कर रहा था, उनकी कलादृष्टि राजपूत तथा मुगल कला के मिश्रण से निथरकर बनी। मत्स्यगंधा, नल-दमयंती, श्रीकृष्ण-देवकी जैसे जो चित्र बनाए उन्होंने स्त्री देह का भारतीय कलादृष्टि के परम्परागत ढांचे में बहुत शाइस्तगी से एक नया ही सौंदर्यशास्त्र रचा।

सबों को एक नए और अपरिचित से दुःख ने घेर लिया था। हमारी मनोदशा इस तरह की हो गई थी कि हम दोस्तों में एक दूसरे आँख मिलाने लायक ताकत भी छिन चुकी थी। उस चित्र ने हमारी अभी तक की अवधारणा की संदिग्ध कर दिया था। वास्तव में वह चित्र कोई सामान्य चित्र नहीं था, बल्कि यथार्थवादी शैली में बनाई गई राजा रवि वर्मा की चित्र कृति थी, जिसके सामने हम सब पड़ गए थे। ठेस चित्र ने नहीं, 'यथार्थ' ने पहुँचाई थी। क्योंकि, गोकुल का लीलाधारी कृष्ण, अपना 'दिव्यत्व' खोकर पांच फुट छः इंच के निहायत ही सामान्य मनुष्य की तरह सामने चित्र में खड़ा था। यह कला में ईश्वर से उसकी अलौकिकता का अपहरण था। राधा में भी 'पावनता' के स्थान पर एक किस्म की 'ऐन्द्रिकता' थी। पवित्रता की 'आभा' और 'आलोक' के बजाय देह केन्द्र में आ गई थी। कृष्ण की आँख में प्रेम का दैहिक चरितार्थ प्रकट हो रहा था। भगवान् हमारे देखे भगवान से छोटा और सामान्य (लिटिल-लेस-देन गॉड) हो गया था।

बहरहाल, इस चित्र ने मेरे कल्पनालोक को तो छठे दशक के उत्तरार्द्ध में संकटग्रस्त किया था, लेकिन वास्तव में तो ऐसा संकट उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में समूचे भारतीय कला जगत ने अनुभव किया था। क्योंकि राजा रवि वर्मा भारतीय कलाजगत में एक ऐसे समय में अवतरित हुए थे, जब कला के सिर्फ दो छोर थे- एक तो था, 'शास्त्र'; जो सामंतयुगीन उच्चवर्ग के अधीन था और दूसरा था 'लोक'; जो ग्रामीण जनसमुदाय के बीच ही अपना सर्वस्व जोड़े हुए था।

शास्त्र के नाम पर दो-तीन स्पष्ट वर्गीकरण थे। मसलन, चित्रांकन की राजपूत शैली तथा मुगल कलमकारी। लेकिन, दोनों शैलियाँ ही अपने शानदार अतीत का वैभव खोना शुरू कर चुकी थीं। वे एक ध्वंस का सामना कर रही थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी के बढ़ते वर्चस्व ने सामंतयुगीन सत्ता को इतना युद्धरत बना दिया था कि कलाओं के परंपरागत संरक्षण का काम उनके लिए अब दूसरे क्रम पर था। कहना चाहिए कि कलाएँ उनकी प्राथमिकता के काफी निचले दर्जे पर थीं। इसके साथ ही जो भारतीय कलम और कूंचीकार चितेरों से काम ले रहे थे, उसमें बादशाह द्वारा शिकार किये जाने या राधाकृष्ण और शिव-पार्वती के बहाने इरोटिक चित्रकारी की जा रही थी। कदाचित् यही वह कालखण्ड था जब भारतीय चित्रकला बंगाल स्कूल के जरिए अपनी अस्मिता की तलाश में जापान की जलरंग-पद्धति (वाश तकनीक) को अपनाकर एक नई सौंदर्य दृष्टि रचने के लिए संघर्षरत थी। प्रकारांतर से यह एक किस्म का नया उदयकाल था।

संयोग से कल्याण के अंकों में छपने वाले अधिकांश चित्र इसी चित्रशैली के थे और जिनमें शारदा उकील जैसे महान चित्रकारों द्वारा रची गई जलरंग कृतियाँ हुआ करती थीं। उस कलादृष्टि में भारतीय मूर्तिशास्त्र को सामने रखकर एक नई आकृतिमूलकता को आहूत किया जा रहा था, जिसमें देवाकृति का आदर्शीकरण था। उकील जैसे महान चित्रकार उसी गौरवमयी परम्परा की उपज थे।

ठीक इसी काल संधि पर त्रिवेन्द्रम से पच्चीस किलोमीटर दूर किल्लीमनूर से निकलकर त्रावणकोर पहुँच कर एक पच्चीस वर्षीय युवक वियना की चित्र प्रदर्शनी में स्वर्ण पदक हासिल करता है। उन्नीसवीं सदी के योरपीय यथार्थवादी शैली में वह ऐसी दक्षता के साथ काम करता है कि समूचे कला जगत को हतप्रभ कर देता है। इसमें भी उल्लेखनीय बात यह थी कि उसने कला के किसी भी संस्थान से अकादमिक शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। वह पूरी तरह आत्म-दीक्षित कलाकार ही था, जबकि, वह निष्णात जलरंगों में था और तैलरंगों को वही भारत में पहली बार इस्तेमाल कर रहा था। उसने वीणा बजाती हुई एक भारतीय स्त्री का चित्रांकन किया था। रंग की 'स्प्रेस क्रिएटिंग प्रापर्टी' का जो दोहन उसने किया था, वह किसी भी योरोपियन महत्वाकांक्षी चितेरे के लिए ईर्ष्या का कारण बन सकता था और हुआ भी यही कि भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के 'कमीशंड आर्टिस्टों' ने इस चित्रकार को ताउम्र अहमियत नहीं दी- और, कहने की ज़रूरत नहीं कि यह चित्रकार था, राजा रवि वर्मा।

लार्ड हर्बर्ड राजा रवि वर्मा के काम से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनकी चित्रकृतियों को अंतर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों में स्पर्द्धा के लिए भेजा और जब वहाँ उन्हें स्वर्णपदक मिला तो सारा दृश्य ही बदल गया। ड्यूक ऑफ बकिंघम ने राजा द्वारा महाकवि कालिदास के चर्चित महाकाव्य शाकुन्तल की नायिका को ध्यान में रखकर बनाई गई चित्रकृति 'शकुंतला' खरीदी। उन्होंने उसका मूल्य पचास हजार अदा किया था।

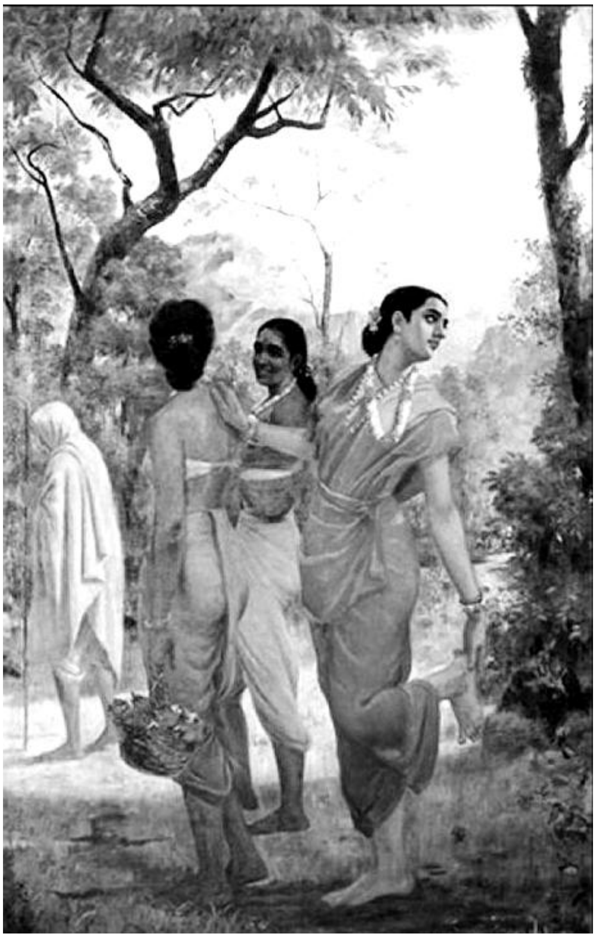

राजा रवि वर्मा जन्म से राजा नहीं थे, लेकिन उन्हें उनकी अद्भुत प्रतिभा ने अंततः राजा बना दिया। हालाँकि वे एक बेहद सुरुचिसम्पन्न परिवार में ही जन्मे थे, जहाँ साहित्य और कला की अत्यन्त परिष्कृत समझ और अभिजात दृष्टि थी। माँ उमा अम्बा तथा पिता इजुमाविल नील कांतन भट्टत्रिपाद की संतान, राजा रवि की प्रतिभा की पहचान, पहली बार उनके चाचा ने की थी।

एक दफा 'राजा रवि वर्मा' राजभवन की दीवार पर तंजोर शैली में चित्रांकन कर रहे थे और बीच में थोड़ी देर के लिए काम छोड़कर उन्हें अन्यत्र जाना पड़ा। जब बाहर से लौटकर आए तो उन्होंने आश्चर्य से देखा कि उनके मात्र चौदह वर्षीय भतीजे ने न केवल उसमें रंग भर दिए हैं, बल्कि, चित्र का शेष रेखांकन भी पूरा कर दिया है। उन्होंने बालक, को भावातिरेक में गले लगा लिया। यही वह क्षण था, जिसमें चाचा ने तय किया कि वे बालक को एक मशहूर चितेरा बनाकर रहेंगे।

वे बालक राजा रवि वर्मा को किल्लीमनूर से त्रावणकोर के महाराजा अयिल्लम तिरुनल के पास ले गए, जहाँ उसने राजाप्रसाद के दरबारी चित्रकार रामास्वामी नायकर से जलरंग चित्रकारी सीखी। राजा रवि वर्मा के लिए ये समय कठिन तपस्या का समय था। एक ओर जहाँ उन्हें जलरंग जैसे माध्यम में दक्षता हासिल करना थी, वहीं दूसरी ओर रेखांकन के शास्त्रीय पक्ष का पर्याप्त अध्ययन करना भी था। परिणामस्वरूप उन्होंने राजप्रसाद में एक बहुत सम्पन्न पुस्तकालय भी मिल गया, जिसमें मलयालम और संस्कृत के साहित्य और कला पर एकाग्र सैकड़ों ग्रंथ थे, जिन्हें उन्होंने खंगाल डाला। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रसूत्र, मूर्तिशास्त्र तथा संस्कृत नाटकों के गहन अध्ययन ने उनमें मिथकीय इमेजरी की विशिष्ट समझ, संवेदना और सौंदर्य-दृष्टि के विकास में एक ठोस आधारभूमि का काम किया। यहाँ तक कि बाद में राजा रवि वर्मा ने संस्कृत के छंदों में कविताएँ लिखीं।

इस तरह रंग और शब्द दोनों के मर्म को जानने के साथ ही उन्होंने संगीत के स्वरों को भी समझा। कथकली की कई मुद्राओं को उन्होंने एक कलाकार की दृष्टि से आत्मसात किया। इसी बीच एक दिन मद्रास के एक अखबार में तैलरंगों का एक विज्ञापन छपा। यह माध्यम उनके लिए नितांत अपरिचित और चुनौतीपूर्ण था। चाचा राजा- राजा रवि वर्मा के युवा भतीजे के लिए तैलरंगों को उपलब्ध कराया, लेकिन दिक्कत ये थी कि वे उसके इस्तेमाल की तकनीक से नितान्त अनभिज्ञ थे। उन्होंने त्रावणकोर के दरबार में पोर्ट्रेट (व्यक्ति चित्र) बनाने के लिए आए एक ब्रिटिश चित्रकार थियोडोर जेनेसन से आग्रह किया कि वे उन्हें तैलरंगों में काम करने की तकनीक का प्रशिक्षण देने की अनुकम्पा करें, लेकिन जलरंग में राजा रवि वर्मा द्वारा किए गए काम को देखकर वह यह जान चुका था कि ऐसी अदम्य इच्छा से भरी प्रतिभा को तैलरंग का उपयोग सिखाना स्वयं के लिए एक खतरा मोल लेना होगा।

बहरहाल, ईर्ष्यावश उसने स्पष्ट इंकार कर दिया। उसने कहा कि वह उसके द्वारा बनाए चित्रों को तो देख सकता है, लेकिन रंग-संयोजन और रंग मिश्रण के समय वह किसी को भी अंदर आने की अनुमति नहीं देगा। उनकी आगामी संभावनाओं का आकलन करते हुए रामास्वामी नायकी ने भी तैलरंग के वापरने की तकनीक बताने से इंकार कर दिया। नतीजतन, युवा राजा रवि वर्मा ने गहरे मनोयोग के साथ भिड़ कर स्वयं ही सबकुछ सीख लिया और कुछ दिनों में महाराज तथा महारानी का सुंदर कम्पोजिशन उसी यथार्थवादी शैली में तैलरंग से बना दिया।

भारतीय परम्परागत चित्रशैली में मूलतः चित्रांकन में कागज की सतह पर एक आयामी ही काम होता था। वे 'चित्रलेख' से थे क्योंकि उन चित्रकृतियों को देखकर यह नहीं बताया जा सकता था कि चित्रकार ने उस चित्र को किस जगह से देखकर बनाया है। वे 'सीन फ्रॉम नो व्हेयर' थे, जबकि चित्रांकन की योरपीय यथार्थवाद शैली में एक स्पष्ट पर्सपैक्टि उभरता था, उसमें छाया और प्रकाश के बीच चीजों को देखने की अनिवार्यता थी। इसके अध्ययन के लिए उन्होंने पद्मानाभनपुर के मलाबार स्कूल ऑफ पेंटिंग में दाखिला भी लेना चाहा, लेकिन निराशा ही हाथ लगी। इस घटना ने राजा रवि वर्मा को गहरा आघात दिया, लेकिन धीरे-धीरे उन्हें उनकी काम करते रहने

कहना न होगा कि निश्चय ही पुराकथाओं और देवी-देवताओं का चित्र आसान नहीं था, क्योंकि उनके आभूषण और वस्त्रविन्यास के साथ ही साथ उस परिवेश और काल को भी समाहित करना था, जिसका कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य नहीं था। राजा रवि वर्मा ने महाराष्ट्रीयन नौगज की साड़ी को देवियों का परिधान बनाया तो तत्कालीन कला आलोचकों ने राजा रवि वर्मा की बहुत आक्रामकता के साथ आलोचना की। उनका तर्क था कि क्या तब ऐसे वस्त्र और परिधान संभव नहीं थे, फिर साड़ी के साथ चित्रण में एक ऐसी स्थानीयता भी आ रही थी, जिससे मिथकीय पात्रों और चरित्रों की भौगोलिकता ही संदिग्ध और संकटग्रस्त होने लगी थी। राजा रवि वर्मा ने वसंत सेना नामक चित्र में नौगज वाली साड़ी को पहली बार ऐसा रूप दिया था कि धीरे-धीरे वह भारतीय स्त्री की सार्वदेशीय पोशाख बन गई। बाद में इसी उल्टे पल्ले वाली साड़ी को रवीन्द्रनाथ टैगोर की भाभी ज्ञानदानंदिनी ने पहनकर सर्वस्वीकृत बना दिया। बहरहाल साड़ी लपेटने की भी वह भारतीय स्त्री के अभिजात्य परिधान की एक बड़ी जगह घेरती है।

की निरन्तरता ने इससे उबार लिया। बाद में उन्होंने स्वयं ही संस्था में प्रवेश पाने के विचार को त्याग दिया था तथा महाराजा की मदद से लंदन की रॉयल अकादमी द्वारा पश्चिम की चित्रकला पर प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं और बहुमूल्य पुस्तकों को मंगवाया और अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ स्वयं ने योरपीय कलाकारों की तकनीक और चित्रभाषा को समझ कर काम करना शुरू किया।

संयोगवश लार्ड हर्बर्ड राजा रवि वर्मा के काम से इतना अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने उनको चित्रकृतियों को अंतर्राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियों में स्पर्द्धा के लिए भेजा और जब वहाँ उन्हें स्वर्णपदक मिला तो सारा दृश्य ही बदल गया। यह उनकी कला की ख्याति का ही सुफल रहा कि ड्यूक ऑफ बकिंघम ने राजा रवि वर्मा द्वारा महाकवि कालिदास के चर्चित महाकाव्य शाकुन्तल की नायिका को ध्यान में रखकर बनाई गई चित्रकृति 'शकुंतला' खरीदी। तब के समय में उन्होंने उसका मूल्य पचास हजार अदा किया था। यहाँ तक आते-आते उनके सामने एक मार्ग स्पष्ट हो चुका था कि अब उन्हें अपनी प्रतिभा को नाथकर अपनी कला को किस रास्ते पर ले जाना है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि उनके लिए जो कला दिशा चुनी जा रही थी, उसकी वाजिब वजह यह थी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के कमीशण्ड आर्टिस्ट भारत आकर जो चित्रांकन कर रहे थे, उसमें जहाँ एक ओर भारत को सांपों, जादू-टोनों और भूख से बिलबिलाते नंगों-भूखों का देश बताया जा रहा था, वहीं दूसरी ओर पण्डों-पुजारियों और नदियों में करोड़ों की संख्या में एक साथ नहाने वालों का देश था। उस समय के ब्रिटिश चित्रकारों ने जो रेखांकन और चित्रांकन किये थे, उनसे इस तथ्य का सत्यापन किया जा सकता है।

दरअसल, यह वह कालखण्ड था, जब औपनिवेशक सत्ता के विरुद्ध एक धीमी लपट लगभग सारे देश में उठ रही थी, क्योंकि भारतीयों को लग रहा था कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में फंसकर अपनी अस्मिता खो रहे हैं। भारत की भव्य और विराट परम्परा पर वक्त की धूल जमती जा रही है। निश्चय ही उसकी तलाश में सिर्फ गर्दन मोड़कर पीछे देखा जा सकता था। निकट गड़बड़ था और भविष्य अस्पष्ट और एक गहरी धुंध के पार था। इसलिए निकट अतीत के उत्खनन को उन्होंने इरादतन रद्द करते हुए सुदूर अतीत या कहें कि पवित्र की तरफ अग्रसर होना तय किया, क्योंकि विराट और वैविध्य वहीं भर ही शेष था- जो ऊर्जा देने के विकल्प की तरह सामने था। शायद यही वह द्वंद्व था, जिसने राजा रवि वर्मा को अपने चित्रों के विषयों को निर्धारित करने में एक बड़ी और निर्णायक भूमिका अदा की। उन्होंन संस्कृत नाटकों, गीत-गोविन्दम् और 'रसमंजरी' से मदद ली और योरपीय 'न्यू क्लासिकल रियलिज्म' की संभावनाओं का दोहन करते हुए, भारतीय पुराकथाओं और देवी-देवताओं का चित्रण करते हुए, भारतीय पुराकथाओं और देवी-देवताओं का चित्रण आरंभ किया। किंचित् इसी कारण चित्रित देव-स्त्रियों की काया कुछ-कुछ

निकट अतीत के उत्खनन को उन्होंने इरादतन रद्द करते हुए सुदूर अतीत या कहें कि पवित्र की तरफ अग्रसर होना तय किया, क्योंकि विराट और वैविध्य वहीं भर ही शेष था- जो ऊर्जा देने के विकल्प की तरह सामने था।

पृथुल बनने लगीं। दरअसल, सौम्यभाव की निर्दोष सात्विकता को अपनी कला की गहरी ऐन्द्रिकता के जरिए अतिक्रमित किया। नतीजतन वे एक खास किस्म की सेंसुअसनेस से भरी स्त्रियाँ थीं, जो पूज्या से अधिक रूपविष्टता का भाव लिए हुए थीं। बहरहाल निर्बाध रूप से यह कहा जा सकता है कि राजा रवि वर्मा की चित्रकृतियां रंग व्यवहार में राजा रवि वर्मा की क्षमताएं रेम्ब्रां, गोया और टिशियन से रत्तीभर कम नहीं थी। अभी भी गोया की नेकेड माजा, रेम्ब्रां की 'सास्किया' या टिशियन की वीनस ऑफ अर्बिनो से राजा रवि वर्मा की किसी भी निर्वसना की तुलना की जा सकती है। बल्कि, यह कहा जा सकता है कि वे चित्रभाषा में भी योरोप के उपर्युक्त महान चित्रकारों के स्तर पर ठहरती हैं। कहना न होगा कि उनकी चित्रकृतियों में देह की कामाश्रयी अभिव्यक्ति रंग-अभिव्यक्ति में काव्यात्मक लगती है। सेक्स को लिरिकल बनाने का यह अद्‌भुत उपक्रम था, जो हमारे रस-सिद्धान्त की समझ से पैदा हुआ था।

राजा रवि वर्मा सुबह चार बजे उठकर अपने चित्र बनाते थे। प्रकाश और छाया के सूक्ष्म अध्ययन और आंकलन के लिए यह समय सर्वाधिक उपयुक्त लगता है। इसमें अंधेरे की विदाई और उजाले की दबे पांव आमद। एक नीम अंधेरे और नीम उजाले के बीच बैठकर वे घंटों अपने बनाए चित्र भी देखा करते थे।

उनकी कृतियाँ धीरे-धीरे पूरे देश में लोकप्रिय होने लगीं, जबकि भारतीय कलाजगत उन्हें निरन्तर निरस्त कर रहा था, उनकी कलादृष्टि राजपूत तथा मुगल कला के मिश्रण से निथरकर बनी मत्स्यगंधा, नल-दमयंती, श्रीकृष्ण-देवकी, अर्जुन-सुभद्रा, विश्वामित्र-मेनका जैसे जो चित्र बनाए उन्होंने स्त्री देह का भारतीय कलादृष्टि के परम्परागत ढांचे में बहुत शाइस्तगी से एक नया ही सौंदर्यशास्त्र रचा, लेकिन उन्हें भीतर कहीं यह बात सालती थी कि कलाकार और कला समीक्षक उनके काम को लगातार और निर्ममता के साथ निरस्त कर रहे हैं।

अतः उन्होंने अपने छोटे भाई के साथ उत्तर भारत की सांस्कृतिक यात्रा की ताकि वे उसकी सांस्कृतिक और भौगोलिकता समग्रता को पूरी तरह आत्मसात कर सकें। बाद इसके ही उन्होंने अपनी चित्रकृतियों में भूदृश्य भी चित्रित करना शुरू किया, बहरहाल, चित्र में पृष्ठभूमि के रूप में जो लैंडस्केप होते, वह उनके अनुज किया करते थे। इस बीच दीवान शेषशय्या ने टी. माधवराव के जरिए राजा रवि वर्मा को बड़ौदा के सयाजीराव महाराज से मिलवाया, जहाँ रहकर उन्होंने पोर्ट्रेट तो किए ही, देवी-देवताओं को विषय बनाकर कई अद्‌भुत ऐतिहासिक चित्रकृतियाँ तैयार कीं। उनकी कृतियों से प्रभावित होकर स्वामी विवेकानन्द ने 'वर्ल्ड रिलीजन कांग्रेस ऑफ शिकागो' में उनके चित्र कृतियाँ प्रदर्शनार्थ मंगवाई, जहाँ उन्हें पदक भी प्रदान किए गए।

निश्चय ही राजा रवि वर्मा ने अपनी गहन बौद्धिक कला चेतना से एक अर्द्ध-विस्मृत सम्पदा को खंगालने का ही ईमानदार उपक्रम किया था, जिसके चलते उन्होंने हमारे पौराणिक अतीत को न केवल पुनराविष्कृत किया बल्कि उसे समकालीनता की एक नई दीप्ति भी प्रदान की। लेकिन विडम्बना यह है कि उनका वही काम उनकी निन्दा और भर्त्सना बनकर उन्हीं से बदला लेने लगा।

स्वीकार और तिरस्कार की जंग से घिरे राजा

इसे समय की विसंगति कहा जाए कि यह उनका दुर्भाग्य रहा कि वे अपने जीवन के आखिरी वर्षों में मुम्बई आए, जबकि उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा का चमत्कृत कर देने वाला कालखण्ड बीत चुका था। बम्बई आकर उन्होंने 1894 में अपने चित्रकृतियों के छापे बनाकर अधिकतम लोगों के पास पहुँचने का संकल्प लिया। मुम्बई के लोनावाला में उन्होंने अपनी प्रेस स्थापित की। कहते हैं कि उन्होंने जर्मनी से ही तकनीशियन और छपाई मशीन मंगवाई थीं। उनके लिए इन्ग्रेविंग का काम धुण्डीराज गोविंद किया करते थे, लेकिन हुआ यह कि धीरे-धीरे आर्थिक घाटा बढ़ता ही चला गया। क्योंकि वे इंग्रेविंग के लिए किए जा रहे निवेश पर स्वभावगत कारणों से यथोचित निगाह नहीं रख पाए और उन्हें छापाखाना बंद करना पड़ा। वे भारी कर्ज से घिर गये थे। धुण्डीराज गोविंद बाद में दादा फालके के नाम से जाने गए। बहरहाल, लेकिन उनके छापों ने उनके स्वप्न को आधा-अधूरा ही सही, लेकिन काफी कुछ अर्थों में कण-कण वाले भगवान, को घर-घर के भगवान के रूप में साकार कर दिया। यह एक किस्म का नया डोमेस्टिकेशन ऑफ गॉड था। कहना न होगा कि मंदिर से उठाकर भगवान को राजा रवि वर्मा ने सामान्य आदमी के घर की बैठक का स्थायी नागरिक बना दिया। सारे देवी-देवता घर के सदस्य की तरह भारतीय घरों में दाखिल हो गए। उनके द्वारा बनाये गये चित्रों में ईश्वर अपने ईश्वरत्व से कुछ कम और मनुष्यत्व से कुछ ऊपर था।

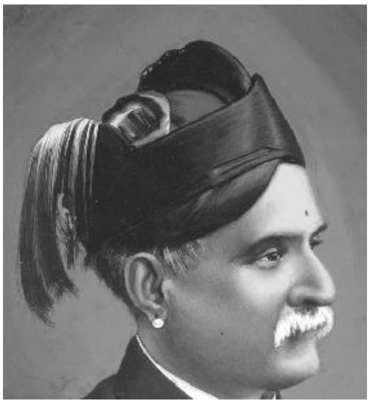

उनके इसी प्रोलिफिक प्रॉडक्शन के प्रयास के कारण उन्हें कैलेंडर आर्टिस्ट कहकर फिर नए तरीके से खारिज किया जाने लगा। लेकिन, एक विचित्र स्थिति यह थी कि जहाँ एक ओर भारतीय कला-जगत में जितनी उनकी अस्वीकृति बढ़ रही थी, ठीक दूसरी ओर सामान्य जनता के बीच वे उतने ही अधिक स्वीकृत होते जा रहे थे। जनता में उनकी कला की इस पहुँच को ईस्ट इंडिया कंपनी भी पसंद नहीं कर रही थी। खासकर, जब उन्होंने शिवाजी और बाल गंगाधर तिलक के व्यक्ति चित्र बनाए तो वे तत्कालीन औपनिवेशक सत्ता के खिलाफ लड़ रहे आंदोलनकारी लोगों के बीच भी सम्मानजनक दृष्टि से देखे जाने लगे। अंग्रेजों को लगने लगा था, यह आदमी पराधीन मुल्क के अतीत के प्रति लोगों में अदम्य रागात्मक उन्माद पैदा कर रहा है- जो एक तरह से प्रेत से साक्षात करना है। प्रकारान्तर से यह देश में चल रहे तत्कालीन स्वदेशी आन्दोलन का कलाजन्य समर्थन था।

लोक और शास्त्र के बीच अखण्ड सेतु

अब जबकि डेढ़ सदी गुजर चुकी है, लेकिन भारतीय कलाजगत के लिए अभी भी एक बिरादरी बाहर चित्रकार हैं। लोग उन्हें पहले से कहीं ज्यादा नकारने के लिए उद्यत हैं। यहाँ तक कि कला की दुनिया में महान करने के दावे के साथ आने वाला युवक, जिसे अभी न तो ठीक से रेखा खींचना आया है और न ही रंग का वाजिब उपयोग, वह भी राजा रवि को कूड़ेदान में फेंकने के बाद अपना काम शुरू करता है।

कला के बाजारमुखी (मार्केट-ड्राइवन) समय में जबकि भारत में जलरंग का परम्परागत माध्यम लगभग हाशिये पर है और अधिकांश तेलरंग में ही काम करते हैं, लेकिन भारत में सबसे पहले तेलरंग में काम करने की शुरुआत करने वाले इस चित्रकार को, तब अपने तेलरंग माध्यम के कारण ही निंदा का पात्र बनना पड़ा था। उन्हें स्वदेशी भावना के विरुद्ध काम करने वाला चित्रकार बताया गया था, क्योंकि तब तेलरंग एक अभारतीय माध्यम था। आज निश्चय ही एक नए और अनौपचारिक साम्राज्यवाद की चतुर्दिक वापसी हो रही है, ऐसे में राजा रवि वर्मा को फिर से आविष्कृत कहने की जरूरत है, चूँकि उन्होंने कला में हमारे उस पापुलर का सृजन किया, जिसके चलते हमने अपने पौराणिक अतीत को समकालीन बनाया। वे लोक और शास्त्र के मध्य एक अखण्ड सेतु थे। उनकी कला का डीएनए हमारी परम्परा से मिलता है। उन्हें पश्चिम की बाजारोन्मुख समकालीन कलाकार बिरादरी चाहे अपने गोत्र का न मानकर भूल जाए, लेकिन उनकी कृतियाँ ही उनका स्मारक हैं। उन्हें हम भारतीय चाहे याद न करें, लेकिन ईश्वर जरूर याद रखेगा, क्योंकि उन्होंने उसके कुनबे और औतारों को मनुष्यों से परिचित कराया था। ईश्वर जब जिंदा रहेगा, आकाश से राजा रवि वर्मा के प्रति आभार प्रकट करता रहेगा।

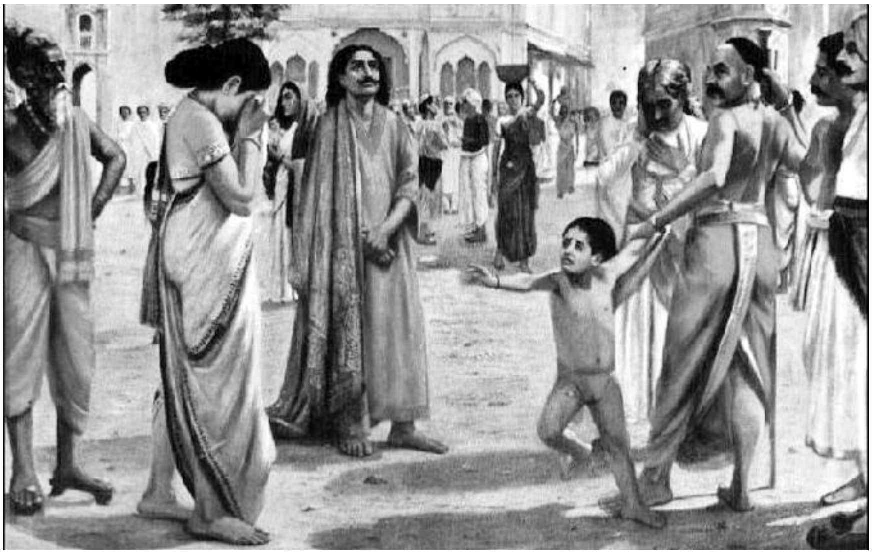

उम्र के आखिरी वर्षों में निश्चय ही वे अपनी ख्याति के चरम पर थे। उन्हें एशिया का रेम्ब्राँ कहा जाने लगा था, लेकिन उन्हें लग रहा था कि कला का मर्म तो वे अब समझने लगे हैं, वे घंटों एक जगह खड़े होकर दिन-रात काम करते थे। इसी श्रम ने उनकी देह को तोड़ना शुरू कर दिया था। इसी बीच उन्हें तब के राजरोग कहे जाने वाले मधुमेह ने घेर लिया। वे थकने लगे थे। उन्हें विदेशों से आमंत्रण आते थे, लेकिन समुद्र-यात्रा न करने वाली उस पुरानी अवधारणा के चलते उन्होंने तमाम आमंत्रण ठुकरा दिये। वे देश में रहकर ही दुनिया भर का हो जाना चाहते थे। शायद, वे सोचते थे कि अपनी जड़ों को अपनी ही मिट्टी में धंसे रहना चाहिए।

इस उम्र तक वे वास्तव में ही बिना किसी तरह का राजमुकुट धारण किए राजा हो चुके थे। उनकी दो-दो पोतियाँ राजघराने में ब्याहकर राजरानियाँ बन चुकी थीं। वे सेतुलक्ष्मी को बहुत प्यार भी करते थे, जो छोटी पोती की छवि से ली थी। रावण द्वारा सीता के हरण के चित्रण में उन्होंने सीता की मुखाकृति अपनी इस पोती की छवि से ली थी। बहरहाल, उनकी आत्मा के अतल में सुलगती छुपी थी एक आग, जिसकी लपट में उन्होंने प्रेम के मर्म को पहचाना था। इसी वक्त उनके खिलाफ तब के नैतिकतावादी ने एक मुकदमा भी दर्ज किया था, जो इस मुद्दे को लेकर था कि उन्होंने जिस स्त्री का चेहरा सरस्वती या लक्ष्मी के प्रतिमानीकरण के लिए चित्रित किया था, उसी स्त्री का निवर्सन चित्र बनाकर उन्होंने भारतीय मानस के शुचिताबोध का अपमान किया। इस मुकदमे को लड़ने के लिए उन्होंने कोई वकील नहीं किया और उन्होंने स्वयं ही लड़ा और वे जीत भी गए। उस मुकदमे में की गई तवील जिरहों पर अभी तक कलाजगत ने ध्यान नहीं दिया। जबकि वह एक अद्भुत पाठ हो सकता है, जो बता सकता है कि सामाजिक नैतिकता का कठिन प्रशिक्षण कलानुभव में विघ्न का कारण बनकर किस तरह सामने आ सकता है।

उन्हें कहाँ पता था कि यह जीवन का आखिरी दिन था। उनका सहायक विली नायर तमाम रंगों और तूलिका को करीने से जमा चुका था। सामने खाली चित्रफलक था। यह वही घड़ी थी, जब अंधेरे को विदा होना था और रोशनी को दाखिल होना था। वे चित्र के विषय पर विचार करते हुए बैठे थे। बाहर, उनके साठ पूरे हो जाने पर मनाए जाने वाले उत्सव की साल भर से तैयारियाँ चल रही थीं। देह उनके लिए उत्सव ही हा था। खासतौर पर स्त्री देह। पर, भीतर ही नहीं, बाहर भी एक हतप्रभ-सा अंधेरा था, जो तय नहीं कर पा रहा था कि उसे किसे निगलना है और किसे छोड़ना है। विली ने देखा, विदा हुई नींद से छूटकर गिर गया था कोई कच्चा स्वप्न। एक अजीब-सी पीड़ा में उन्होंने चित्रफलक को देखा मृत्यु से कोई संधि नहीं, जिसे देखा नहीं, जिसका पता ही नहीं हो, उससे कैसी और कौन-सी संधि? फिर मृत्यु की यह खसलत है कि वह कलाहीन लोगों की तरफ से मुंह फेर लेती है, लेकिन, कलाकारों की तरफ बेसब्री से लपकती है। वे रात के विदा और दिन के आगमन की घड़ी में अचानक आ गई। मृत्यु ने उनसे कहा होगा- लो चलो, अब चलो। बहुत कर लिया अब तुमने। एक जीवन में किये जाने वाले काम से ज्यादा।

उन्होंने हजारों ईश्वर बनाये थे, लेकिन उस वक्त उनकी इमदाद के लिए एक भी अवतार नहीं आया और मृत्यु उन्हें चुपचाप अपने साथ लेकर चली गई। उनके सहायक विली नायर ने देखा, उनके जूते बाहर उतरे हुए हैं और वे जूते पहने बगैर ही इतनी दूर की यात्रा पर निकल गए हैं।

चित्रकार को स्वप्न सदृश अनुभव हमेशा आते हैं। क्योंकि किसी भी रचना की सृजन प्रक्रिया के दौरान उसकी मनःस्थिति स्वप्न देख रही सी ही होती है। जो सचमुच प्रत्यक्ष में नहीं है। वही उसे दिखाई देता रहता है या केवल उसका आभास उसे होता रहता है।

केनवास पर बनते स्वप्न-चित्र

मंजूषा गांगुली

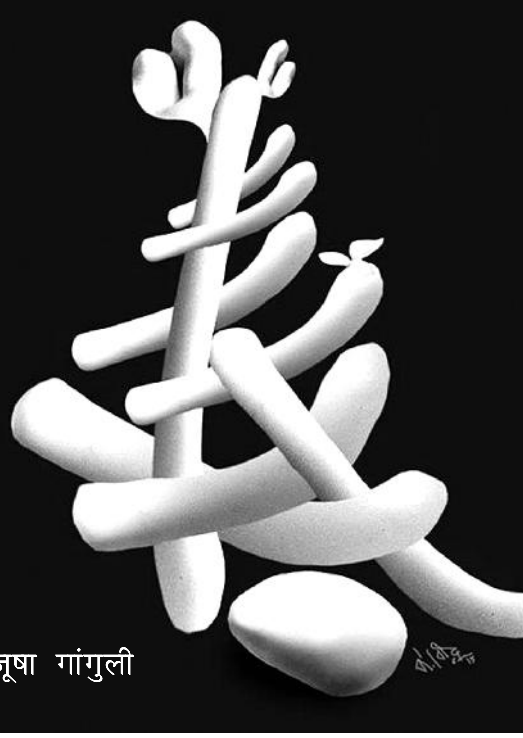

वहाँ सामने एक वृक्ष जिसकी ऊँची-ऊँची शाखाएँ बादलों से सटी हुई जान पड़ती है। इस पेड़ के निचले तने के व्यास और उसकी छालों की दरारों से भरी खुरदुरी त्वचा के कारण उस वृक्ष के प्रचण्ड अनुभव के साक्ष्य मिलते हैं। तने पर आए उभार, गठानें, गहरे गड्ढे और पाखियों के घरौंदे इन सभी के कारण यह तना एक विलक्षण आकार के पुरातन शिल्प की तरह दिखता है। वृक्ष का व्यास विस्तार और ऊँचाई सभी कुछ भव्य है। उसे देखकर ही जाना जा सकता है कि अनेक पगलाए बादलों से वह जूझा होगा। इसे ठीक-ठीक याद होगा शिशिर के अंत में उसका पत्तियों विहीन होना। फिर हर चैत में आती नयी बयार, बारिश की शुरुआती अंधड़, मूसलाधार वर्षा का ताण्डव और आसमान में कड़कती बिजलियों का रह रहकर, चमकना, वहीं उसकी हर पत्ती से होकर गुजरने वाला हरा-भरा चैतन्य भला कैसे भूला जा सकता है उसे!

सुबह की ओस की बारिश, बर्फीली सर्दी, चारों ओर गहराती धुंध जिसमें गुम होती हर एक पत्ती को उसने अनुभव किया होगा। युगों से सालों-साल हर बार अलग-अलग तरह से बहती हवा का एक शब्द उसे याद हो चुका होगा। उस ऐसे सनातन वृक्ष के समीप जाकर उसकी खुरदुरी छाल के भीतर नम होता अंतर्मन छू लेने का बहुत मन करता है। इसी वृक्ष की विशाल छाया में कितने ही प्रवासी आकर रुके होंगे। कुछ समय विश्राम कर गुजर गए होंगे। इसकी घनी पत्तियों में से आसमान दिखाई देना लगभग असंभव ही है। चीटियाँ चींटें, गिरगिट, गिलहरी आदि की अनेक पीढ़ियाँ बसती होंगी इसी तने पर या शाखाओं पर। और होंगे घरौंदे इसकी ऊँची-ऊँची टहनियों के सिरों पर जिन बच्चों को धीरे-धीरे बढ़ते हुए इसने देखा होगा। इसी वृक्ष की जड़ में कहीं साँप भी बसते होंगे अपने बिलों में। कुल मिलाकर यह समूचा वृक्ष यानि एक छोटा-सा, अपने ही तरह का बिरला विश्व ही तो है।

इसी पेड़ पर एक पक्षी है- होगा भी कब से वह 'ए' अमुक' ऐसी आवाज़ दे रहा है। जिसकी आवाज स्पष्ट सुनाई दे रही है। लेकिन दिखाई नहीं देता। उसकी यह परिचित हूक सुनते ही मन शांत हो जता है। खिन्नता दूर हो जाती है और यकायक कुछ मिल गया सा लगने लगता है। 'ओ अमुक' जैसा फिर कुछ सुनाई देता है और मैं उसे मन ही मन हुंकार देती हूँ। वह पक्षी छोटा-सा सुंदर-सा होगा शायद लेकिन वैसा न भी हो तो भी फर्क नहीं पड़ता क्योंकि वह 'ओ अमुक' की प्रतिक्रिया देता है। यही महत्वपूर्ण है। उसकी इसी आवाज से मैं जागती हूँ- यह पक्षी मुझमें मेरे होने की याद दिलाता है।

वास्तव में देखा जाए तो वह वृक्ष और उस पर बैठा वह पक्षी सचमुच तो नहीं होता। क्योंकि मेरे सामने सिर्फ, एक केनवास होता है और वह भी 'कोरा केनवास'। किसी दिवास्वप्न की तरह सारा कुछ स्पष्ट दिखाई देता रहता है। और कभी-कभी उसी में से एकाध चित्र की शुरुआत होती है अर्थात् यह सारा जस का तस उस चित्र में आ नहीं पाता बल्कि उसमें कई बदलाव आते हैं। लेकिन स्वप्न भी कई बार ठीक वास्तविक ही होते हैं। बल्कि ऐसे स्वप्न का सपनापन जागने के बाद ही महसूस होता है। तब तक वह वास्तविक ही होता है। यह वास्तविक नहीं है। इसकी खामी हो जाने पर ही हम सब उसे स्वप्न समझते हैं।

चित्रकार को स्वप्न सदृश अनुभव हमेशा आते हैं। क्योंकि किसी भी रचना

की सृजन प्रक्रिया के दौरान उसकी मनःस्थिति स्वप्न देख रही सी ही होती है। जो सचमुच प्रत्यक्ष में नहीं है। वही उसे दिखाई देता रहता है या केवल उसका आभास उसे होता रहता है। स्वप्न घटना या प्रतिमा बासी दृष्टिकोण से असंबद्ध और असंभाव्य लगती है। स्वप्न में वैसी नहीं लगती है। उसी तरह चित्र की प्रतिमाएँ असंबद्ध लगते हुए भी चित्र के संदर्भ में वे सुसंबद्ध ही होती हैं। उन प्रतिमाओं का चित्रावकाश से रिश्ता और स्वप्न प्रतिमान के स्वप्नों का रिश्ता एक ही है, ऐसा कहने में हरकत नहीं है।

हमारे स्वप्न भी वास्तविक अनुभवों पर धारित होते हुए भी उसके पार पहुँच जाते हैं। यानि वे वास्तव की शक्यता-अशक्यता से उस पार पहुँच जाते हैं। इसीलिए स्वप्न में असंभव कुछ होता ही नहीं है। यथार्थ के विभिन्न अनुभवों के चलते जो भी कल्पनाएँ हमारे मन में आती जाती हैं- उन्हीं कल्पनाओं के मूर्त स्वरूप हमें स्वप्न में अनुभव होते हैं। इसी कारण हम पक्षियों की तरह स्वप्न में उड़ सकते हैं। बादलों की तरह तैर भी सकते हैं। चित्र में इन्हीं कल्पनाओं का मूर्त स्वरूप हम देख पाते हैं। तभी तो स्वप्न की तरह ही चित्र में अशक्य असंभाव्य जैसा कुछ भी बचता नहीं है। केवल चित्रावकाश के संदर्भ में सौंदर्य विवेक पर आधारित चित्र कृतियों के स्वयं भी ऐसे कुछ रिश्ते होते हैं चिन्हें चित्रकार को निभाने ही पड़ते हैं।

हमारी संवेदनाएँ स्वप्न में, सुप्तावस्था में होते हुए भी एक खास सीमा तक कार्यरत रहती है। इसीलिए हमारा स्वप्नानुभव, दृश्यानुभव होते हुए भी कभी-कभी (कुछ प्रसंगवश) अन्य संवेदनाओं के जरिए हमें इनका प्रत्यक्ष अनुभव का आभास होता है। उसी तरह चित्रानुभव यह मूलतः दृश्य-स्वरूप में ही पता चलने के बावजूद उन संवेदनाओं में से इतर संवेदनाओं पर भी किन्हीं प्रमाणों में प्रभाव पड़ता है और प्रत्यक्ष का आभास उत्पन्न होता है। मात्र यह आभास है इसका अहसास हमें उस समय भी होता रहता है। चित्र और स्वप्न में यह मूलभूत अंतर है। क्योंकि सपने में हम यह स्वप्न देख रहे हैं इसका अनुभव हमें नहीं हो रहा होता बल्कि वह प्रत्यक्ष ही घट रहा है ऐसा लगता रहता है।

चित्र और स्वप्न में और भी एक महत्वपूर्ण फर्क है। वह यह कि स्वप्न हम चाहकर भी देख नहीं सकते। हमें कौन-सा स्वप्न दिखेगा इसकी पूर्व कल्पना भी हमें नहीं होती। एकाध दुःस्वप्न हो तब भी हम उसे नकार नहीं सकते। सपनों को हम रोक भी नहीं सकते। संक्षेप में कहें तो, कोई भी जागृत विचार या कल्पना स्वप्न को प्रत्यक्ष आकार दे नहीं सकता, ठीक इसके विपरीत किसी भी कलाकृति में जागृतावस्था और स्वप्न दोनों के समन्वय को देखा जा सकता है, वह इस तरह की प्रतिमा सृजन यद्यपि स्वप्न सदृश्य सी मानसिक अवस्था में होता तो भी प्रतिमाओं के चित्रावकाश में निहित स्थान और कुल मिलाकर समूची योग्यता को उसके जागृत परिशीलन में परखा जा सकता है। इसी कारण एक विशिष्ट सीमा तक चित्रकार अपनी कृति को आकार दे पाता है। उसे वह रच सकता है। लेकिन सपनों के मामले में यह कतई संभव नहीं है। क्योंकि स्वप्न हमारे जागृत विचारों के (उस पार) बाहर होते हैं।

एक विशिष्ट सीमा तक चित्रकार अपनी कृति को आकार दे पाता है। उसे वह रच सकता है। लेकिन सपनों के मामले में यह कतई संभव नहीं है। क्योंकि स्वप्न हमारे जागृत विचारों के (उस पार) बाहर होते हैं।

चित्रकार एक खास सीमा तक ही चित्र बना सकता है। इसका कारण यह है कि चित्र में निहित मूलाधार उत्सर्जना उसके समग्र विचारकक्ष के पार होती हैं। केवल चित्र में और स्वप्न में विलक्षण साम्य दिखाई देता है। स्वप्न की तरलता, आज़ादी और यथार्थ लांघने की क्षमता जैसे गुणों की आवश्यकता चित्रों में भी आवश्यक है। और यह सब उत्कटता में से निर्मित होता है। इसी कारण एक ओर जहाँ चित्र अपने आप बनते चले जाते हैं, वहीं दूसरी ओर उसी समय किन्हीं प्रमाणों में चित्रकार भी उसे रचता चला जाता है। कई बार तो ये दोनों ही क्रियाएँ यानि अपने आप घटने और घटने देने की एक ही समय में सक्रिय होती हैं। जिनके समन्वय से ही चित्र बन जाता है। तभी तो किसी सीमा तक चित्रकार चित्र में आकार भरता रहता है। फिर भी उसमें बहुत-सा प्रतिशत अपने आप होते जाने का भी है। यहीं स्वप्न और चित्र का रिश्ता बनता है।

वास्तविकता के प्रतिबिंब सपने में दिखाई देते हैं। यह सत्य है, फिर भी उसी कारण उस वास्तव के अनेक अज्ञात रूप हमें स्वप्न के जरिए पता चलते जाते हैं। यह भी उतना ही सच है। इस तरह स्वप्न में घटने वाले वास्तव का रूपांतरण भी एक ही विशिष्ट पद्धति से न होकर उस रूपांतर की भिन्न-भिन्न संभावनाएँ निर्मित होती हैं चित्रकार की दृष्टि से ये संभावनाएँ बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। प्रत्येक सृजन प्रक्रिया में कल्पना शक्ति के साथ अंतः प्रेरणा मूल अनुभवों की स्मृतियाँ और प्रत्यक्ष संवेदनाओं से अनुभूत वास्तविकता के विविध रूपों आदि के समावेश होते जाने के कारण सृजन भी स्वप्न जैसा ही जटिल होता है। कभी-कभी उसमें निहित प्रतिमाएँ सपने में एक भिन्न रूप धारण कर समक्ष आ जाती है। कभी चित्र के रूपांतर त्रिमिती में किसी शिल्प की तरह होता है। तो कभी चित्रभित्तियाँ विस्तृत होती पूरे आसमान भर फैली नजर आने लगती है। कभी चित्र की दीवार बनती है तो कभी उन दीवारों में चित्र के आकार के दरवाजे खुलते हैं तो कभी उन्हीं आकारों के कोने। इन्हीं सबके बीच चित्रकार को नई-नई संभावनाओं की खोज होती है। और अप्रत्यक्ष रूप से उससे उसकी सृजन प्रक्रिया में मदद मिलती है। ऐसी मेरी मान्यता है।

इस तरह से स्वप्न और सृजन प्रक्रिया का निकट संबंध हैं, सपनों में सुप्त रूप में कार्यरत कल्पनाशक्ति का ही दूसरा रूप सृजन क्रिया द्वारा चित्र में प्रकट होता है। स्वप्न सादृश्य अनुभवों से चित्रों में प्रकट होने वाली प्रतिमाओं को चित्र में एक प्रकार का अधिभौतिक रूप प्राप्त होता है। मूलतः वास्तविक अनुभवों की स्वप्नसदृश्यता और स्वप्नजन्य प्रतीत होने वाली अतिवास्तविकता जैसा दुहरा अनुभव सृजनशीलता में ही प्रकट रहता है। ऐसे इन दो विभिन्न स्तरों के अनुभवों के एकत्रीकरण में से या समन्वय में से प्रतिभा सृजन होते रहने के कारण स्वाभाविक है कि चित्र संदर्भ सपनों को अनन्य साधारण महत्व प्राप्त होता है।

माँ की याद दिलाते मेरे चित्र

प्रमोद गणपत्ये

संवाद

पंकज शुक्ला

उज्जैन... क्षिप्रा का तट... मंदिरों के गुंबद पर फहराती पताकाएँ, अमावस-पूर्णिमा पर लगते श्रद्धालुओं के मेले, पंचकोषी यात्राएं, सिंहस्थ, भगवाधारी साधु। केसरिया, पीले, हरे, लाल साफे, धवल कुर्ते-धोती पहने पुरुष, छींटवाली ओढ़नियाँ, घाघरे, चांदी के आभूषण से सजी देशज महिलाएँ। ग्राहकों को पुकारती, मोल-भाव करती ठेठ मालवी देहाती महिलाएँ। पूरा वातावरण एक केनवास है और सारे किरदार इस केनवास पर बिखरे चटख रंग। मालवावासियों के मन में मालवा की माटी का रंग और गंध कुछ ऐसी ही गहरे तक पैठे रहते है। लोग इस मिट्टी से दूर जरूर जाते हैं लेकिन वे बार-बार यहीं लौट कर आते हैं। ऐसे ही मालवी चित्रकार हैं प्रमोद गणपत्ये। वे चार दशकों से मालवा से दूर हैं, लेकिन जितने वे अपने इस इलाके से दूर हैं, उतना ही गहराई से उनके चित्रों में मौजूद उनका मालवा।

प्रमोद गणपत्ये ने जीवन संसार के इन्हीं चटख रंगों को अपने केनवास पर उकेरा। समय के साथ ये रंग पीछे छूटते गए और केनवास पर रह गया प्रमोद जी की कला दृष्टि में रमा खालिस मालवा और यहां का लोक जीवन। मालवा में बुजुर्ग महिलाओं को आदर से 'बाई', 'जीजी' का सम्बोधन दिया जाता है। प्रमोद जी के चित्रों का अहम् किरदार हैं ये 'बाई' या 'जीजी'। इन चित्रों को देखकर बरबस हमें अपनी माँ याद आ जाती है; या गाँव की उन महिलाओं की छवि कौंध जाती है जो हमारे बचपन का बड़ा हिस्सा रही हैं. प्रमोद जी के चित्रों में उभरी ये स्थूल काया स्त्रियाँ 'ज़ीरो फिगर' पसंद कर रही पीढ़ी के वक्त में हमारी लोक संस्कृति का बचे रहे गए भीने अहसास की तरह हैं। तभी तो प्रदर्शनियों में इन चित्रों और इन किरदारों को देख अनगिनत लोग प्रमोद जी के पास आते हैं और अपनी माँ का किरदार रच देने के लिए साधुवाद दे जाते हैं।

इन प्रतिक्रियाओं पर प्रमोद जी टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि मैंने मोटी स्त्री को मॉडल बना दिया है। कई मोटी महिलाएँ आकर कहती हैं कि इन चित्रों को देखकर हमें अपने मोटापे पर शर्म नहीं आती बल्कि एक अलग तरह का आत्मविश्वास उपजता है। प्रमोदजी के लिए ऐसी प्रतिक्रिया ही सबसे बड़ा पुरस्कार है। प्रमोद गणपत्ये मध्यप्रदेश की उस चित्रकारी परम्परा का प्रमुख हिस्सा है जो एमएफ हुसैन और रजा जैसे चित्रकारों से समृद्ध हुई है। १९५३ में देवास में जन्मे प्रमोद जी का बचपन राजगढ़ और ग्वालियर में बीता। जब १९६४ में उज्जैन के भारती कला भवन में दाखिला लिया तो मानों बचपन के शगल को व्यवस्थित रूप मिल गया। उज्जैन के विक्रम विश्वविद्यालय से प्राचीन इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व में स्नातकोत्तर के साथ-साथ चित्रकारी चलती रही। चित्रकला में कुछ नया करने के उद्देश्य से १९७६ में दिल्ली जाना हुआ। यहाँ का जीवन आसान न था। जीवनयापन के लिए पत्र-पत्रिकाओं में रेखांकन किया। इस काम में पैसा भी कम था और सम्मान भी कम ही था। फाकाकशी के दौर में अधिकांश रातें राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में प्रशिक्षण पा रहे दोस्तों के साथ गुजरी। यहाँ नाटकों के लिए मंच सज्जा, वेशभूषा, पोस्टर बनाने का काम मिला। इस काम ने चित्रकार में मानव हावभावों, दृश्य संयोजन और काले-सफेद रंगों को छाया-प्रकाश की मानिंद साधने का हुनर दिया। उम्र के साथ शैलियाँ बदलीं, रूपाकार भी बदले और रंगों का चयन भी बदला। विषय वस्तु जरूर बदली, स्वयं को अभिव्यक्त करने का माध्यम भी बदला लेकिन नहीं बदला तो मालवा से जुड़ाव और रचनाओं में उभरता मालवा का अक्स।

प्रमोद जी की कला यात्रा पर विस्तार से चर्चा की वजह बनी उनकी भोपाल यात्रा और उनके केनवास पर उभरी स्त्री छवियाँ।

पंकज शुक्ला : **रंगों से नाता कैसे जुड़ा? क्या बचपन से ही चित्रकारी का आपको शौक रहा है?**

प्रमोद गणपत्ये : मालवा के राजगढ़ और ग्वालियर में बचपन बीता। फिर उज्जैन आ गया। देवास, इंदौर आता-जाता रहा। उन्हीं दिनों दीवारों पर कोयले से आड़ी-टेढ़ी रेखाएं खींचते हुए कब चित्रकारी शुरू हो गई, पता ही नहीं चला। जीवन ने मुझे सीखने के बहुत मौके दिए। देश-विदेशों में खूब घूमा। ये अनुभव रह-रह कर मेरे चित्रों में दर्ज होते हैं।

- लोग अमूमन बाहर नहीं जाते मालवा से फिर आप दिल्ली तक कैसे पहुंचे और फिर वहीं के होकर रह गए, क्यों?

(हँसते हुए) हाँ, यह तो है। मालवा को छोड़ना हर किसी के लिए सम्भव नहीं है। मैंने भी कहाँ छोड़ा मालवा। अब तो साल में दो-तीन बार उज्जैन आ जाता हूँ। कई-कई दिन ठहरता हूँ और अपनी माटी से जुड़े होने का सुख उठाता हूँ। (थोड़ा गंभीर होते हुए) असल में दिल्ली तो पहचान बनाने गया था। लेकिन वहाँ स्थापित होना आसान न था। काफी पापड़ बेलने पड़े। लेकिन इस दौरान मिले अनुभव आगे बहुत काम आए।

जिसे दुनिया मोटी स्त्री के रूप में देख रही है, असल में वह मालवा में हमारे आसपास की महिला है जो परिवार का ध्यान भी रख रही है, छोटा-मोटा व्यापार भी कर रही है। इन किरदारों को देख कर लोगों को अपनी प्रेमिका नहीं, माँ याद आती है।

- जब चित्रकारी ही लक्ष्य था तो फिर म्यूजिकोलॉजी को क्यों चुना? क्या इसके बाद आगे का सफर कुछ आसान हुआ?

कई लोगों से मिली सलाहों और अपने रुझान को देखते हुए म्यूजिकोलॉजी में स्नातकोत्तर के लिए महाराजा सयाजी विश्वविद्यालय बड़ोदरा चला गया। यहाँ भारतीय इतिहास को समझने का समय था। दो साल बाद फिर दिल्ली चला आया। यहाँ कुछ अस्थायी काम के बाद राष्ट्रीय संग्रहालय में क्यूरेटर बना। यहाँ न केवल देश-विदेश की कला, संस्कृति और इतिहास के रिश्ते को समझा बल्कि इस समझ ने चित्रकार के रूप में मेरे अनुभव को और गहरा किया।

- तो क्या आप शुरू से ही मूर्त चित्र ही बनाते रहे हैं?

शुरुआत में अमूर्त चित्रकारी भी की। आरम्भिक चित्रों में ग्रह-नक्षत्रों के लिए तय रंगों का प्रयोग कर ख्यात हस्तियों के अंतर्जगत को टटोला। इन अमूर्त चित्रों के नाम राजकपूर, कुमार गंधर्व और सत्यजीत रे थे।

- लेकिन अमूर्तन कला यात्रा का समय बहुत कम रहा, ऐसा क्यों?

केनवास पर अमूर्त गढ़ जरूर रहा था लेकिन मन में तो मालवा बसा था। यहाँ के लुभावने दृश्य थे। मुझे लगा कि जो मैं केनवास पर रच रहा हूँ और जो जीवन मेरे आसपास बिखरा पड़ा है, जिस प्रकृति ने मुझे स्वयं को गढ़ा है, उसमें कोई साम्य ही नहीं है। बस तभी से हमारे जीवन से जुड़े प्रसंगों को उकेरना शुरू कर दिया।

- आमतौर पर मॉडल एक परफेक्ट फिगर की स्त्री होती है लेकिन आपके रचना संसार की मॉडल तो मोटी स्त्री है। एक आम घरेलू महिला। ऐसा क्यों और इन पर क्या प्रतिक्रियाएं मिलती हैं?

मैंने जब मालवा को अपने केनवास पर उतारने का निर्णय किया तो वहाँ के फिगर्स को ही तो व्यक्त करूँगा ना। जिसे दुनिया मोटी स्त्री के रूप में देख रही है, असल में वह मालवा में हमारे आसपास की महिला है जो परिवार का ध्यान भी रख रही है, छोटा-मोटा व्यापार भी कर रही है। इन किरदारों को देख कर लोगों को अपनी प्रेमिका नहीं, माँ याद आती है। तभी तो प्रदर्शनियों में कई लोगों ने व्यक्तिगत रूप से आकर मुझे माँ को आकार देने के लिए धन्यवाद दिया।

- डायरी लिखना आपकी आदत है, क्या ये डायरियाँ कभी प्रकाशित होंगी?

मैंने अपनी नौकरी के सिलसिले में कई यात्राएँ की हैं। यूनान, रोम, इजिप्ट के अद्वितीय शिल्प ने लुभाया तो पेरिस, सिडनी, न्यूयार्क, बर्लिन, अमस्टर्डम के संग्रहालयों

ने चकित किया है। माइकल एंजेलो, लियानार्डो द विंची, वॉन गाग, पिकासो जैसे मनीषियों के मूल चित्रों को देखा, महसूस किया। उनके निवास स्थानों, गाँवों, कस्बों की यात्राएँ कीं। यह सब इन पुरोधाओं के कला संसार को समझने का जतन था। ये यात्राएँ और यहाँ के अनुभव मेरी डायरियों का हिस्सा हैं। कोई अनुभव शब्द में, तो कोई रेखांकन की शक्ल में। कभी कैमरे से अपने अनुभव को कैद किया है। ये अनुभव ही कालांतर में मेरे चित्रों के रूप में सामने आए।

- आपने कई माध्यमों में स्वयं को व्यक्त किया है, फिर तो आप कविताएं भी लिखते होंगे?

मैं कविताओं का प्रेमी हूँ लेकिन जितना अच्छा श्रोता हूँ, उतना अच्छा लिख नहीं पाता। फिर भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। ये कविताएँ मेरी विभिन्न देशों की यात्राओं से मिले अनुभव की बयानी ही कही जानी चाहिए।

- कुछ पंक्तियाँ याद आ रही हों तो हमसे साझा कीजिए।

एथेंस घूमते हुए एक कविता लिखी थी। इसी की कुछ पंक्तियाँ सुन लीजिए-

मैं सोलहवीं सदी का भटका हुआ पात्र हूँ
यूँ ही इस शहर में घूम रहा हूँ
माइकल एंजेलो के हाथ हूँ
जो इन पत्थरों को टटोलता हूँ
चर्च की दीवार पर बना चित्र हूँ
जिनमें विंची ने रंग भरे थे।

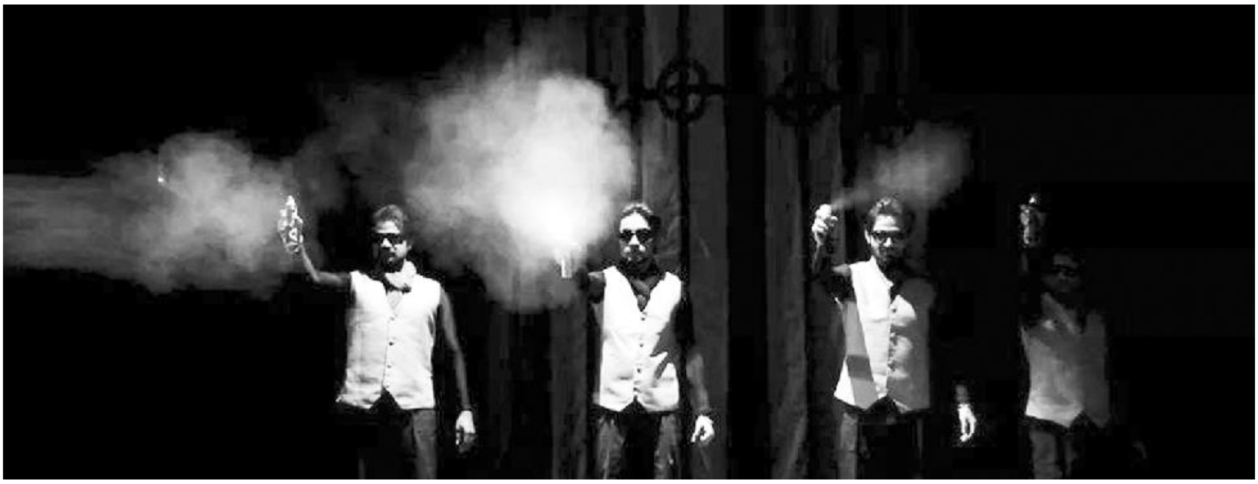

अमूर्त रंगमंच का औचित्य?

आलोक चटर्जी

पिछले एक दशक में महानगरों और मेट्रो में प्रयोगवादी रंगमंच और अमूर्त रंगमंच का आयातित बोलबाला आज हमारी अपनी संस्कृति और रंगमंच की परम्परा को नष्ट करने का एक असफल प्रयास कर रहा है। ये प्रयोगवादी रंगमंच या अमूर्त रंगमंच आखिर है क्या?

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में जो भयानक मानवीय संकट उत्पन्न हुये, उसने साहित्य, कविता, पेंटिंग, फिल्म और रंगमंच के क्षेत्र में कई सार्थक एवं उद्देश्यपूर्ण कार्य किये। विशेष रूप से फ्रेंच दार्शनिक नाटककार ज्यांपॉल सार्त्र, अलबेयर कामू और आयरिश नाटककार सैम्यूअल बैकेट एवं अमरीकी नाटकार आयनेस्को विश्व रंगमंच पर मैन विदआउट शेडोज़, कलिगुला, वेटिंग फॉर गोडो, द लैसन जैसे नाटक प्रस्तुत किये। आलेख के स्तर पर ये अत्यंत चुनौतीपूर्ण थे, और इनको प्रस्तुत करने की एक नई शैली ईजाद हुई, जिसे अस्तित्ववादी रंगमंच और एब्सर्ड थियेटर का नाम दिया गया। पौलेण्ड में ग्रोटोवस्की ने पुअर थियेटर और साइकोफिजीकल थियेटर यानि मनोशारीरिक रंगमंच को स्थापित किया जिसे उसने ''थर्ड थियेटर'' कहा। अमरीका में रिचर्ड शेखनर ने ''एनवायरमेण्टल थियेटर'' को स्थापित किया, तो जर्मनी में बर्तोल्त ब्रेख़्त ने यर्थाथवादी शैली से अलग ''थ्योरी ऑफ ऐलियेनेशन'' और ''एपिक-थियेटर'' की स्थापना की।

ये सब युगांतरकारी नाट्य प्रयोग थे जिन्होंने समूचे विश्व के रंगमंच को एक समान रूप से प्रभावित किया, पर अभी जो विगत् वर्षों में हमारे यहां हो रहा है, वह अत्यन्त निकृष्ट, असामाजिक, अभारतीय, और अपनी जड़ों और परम्पराओं से कटा हुआ रंगमंच है। जो मात्र फैशन, प्रोजेक्ट ग्रांट आदि हासिल करने के लिए किया जा रहा है। छोटे शहरों से बड़े शहरों में गये रंगकर्मी अपने कॉम्प्लेक्स के कारण इनसे जल्दी प्रभावित हो जाते हैं और इनका अनुकरण करने लगते हैं, वे ये भी भूल जाते हैं कि वे कौन हैं? और कहां से आये? उनका परिवार कहां से आया है? वे किस समाज से आते हैं? इन सबका भान हुये बगैर वे किस दर्शक और समाज के लिये रंगमंच कर रहे हैं? विदेशों में आज से लगभग 30 वर्ष पहले जो ''रूम-थियेटर'' या ''स्टूडियो- थियेटर'' का प्रचलन था उसके बाद ''सपर थियेटर'' आया जिसमें मंच पर खाना बनाते हुये कोई कहानी कहना या अभिनय करना होता है दरअसल यह यर्थाथवादी रंगमंच से ही लिया गया एक प्रयोग है। ऐसे प्रस्तुतियों को निर्देशित करने वाले भारतीय रंगकर्मी अधिकांशतः विदेशी भाषा और संस्कृति से आक्रान्त हैं, वे भूल जाते हैं कि हमारे यहां जितना विविधपूर्ण रंगमंच और नाट्य प्रयोग हैं वे अन्य किसी संस्कृति में नहीं। पाश्चात्य से उलट भारतीय कला और दर्शन अन्ततः स्वयं को जानने और समाज को एक बेहतर रूप देने के लिये है, जिसमें जीवन एक लयबद्धता लिये हुये हो और उसमें किसी प्रकार की कोई विकृति न हो। हमारे यहां भारतीय यर्थाथवादी नाटककार मोहन राकेश और विजय तेंदुलकर हैं तो प्रयोगवादिता में धर्मवीर भारती, भुवनेश्वर दूसरी ओर लोक संस्कृति की छटा, पारम्परिक रंगमंच, भागवत कथाएं, हितोपदेश, पंचतंत्र, जातक कथाएं आदि हैं। इसके अतिरिक्त कविता का रंगमंच, कहानी का रंगमंच, नृत्य नाटिकाएं भी उपलब्ध हैं। क्या ये सब एक साथ किसी दूसरी अन्य संस्कृति में हैं?

आज भी आधुनिकतम व्यक्ति भी घर परिवार में पारम्परिक संस्कारों का निर्वाह करता है, तो रंगमंच और कला में वो स्वयंभू पुरोधा बनने की कोशिश आखिर क्यों करता है? क्या यह अपने बौद्धिक दिवालियेपन को प्रदर्शित करना नहीं है? हमारे इतिहास में ही विभिन्न संस्कृतियों की इतनी कहानियां हैं कि शताब्दियां बीत जाएं फिर भी सम्भावनाएं समाप्त नहीं होंगी। आधुनिक और लोक

का सामूहिक प्रयोग भी काफी दिलचस्प हो सकता है। इसके अलावा आज छोटे शहरों के युवा रंगकर्मी अपनी सीमित संसाधनों में असीमित संभावना उत्पन्न कर रहे हैं। हमें उनका सम्मान करना चाहिये, न कि अपने छद्म बौद्धिक आतंक से उन्हें डराने की चेष्टा करनी चाहिये। हीन वे नहीं आप स्वयं हैं फिर स्वयं को ही महत्वपूर्ण समझने की यह भूल क्यों? जिस देश में अधिकतर लोग अशिक्षित, अपोषित और रोजगार विहीन हैं, मात्र धर्म और संस्कारों की प्रेरणा ही उनका जीवन स्रोत है, उनके लिये आज का यह अमूर्त रंगमंच और तथाकथित प्रयोगवादी रंगमंच आखिर किस काम का है? उन्हें इनसे क्या लेना-देना? उनके जीवन से जुड़ा क्या है ऐसी कला में? जो उन्हें जोड़े बगैर रंगमंच करना ''एक बौद्धिक विलास है''।

प्रयोगवादी और अमूर्त रंगमंच के प्रस्तुतियों की कुछ झलक देखें- टैगोर के नाटक में ऊंचे स्लिपर पर नृत्य करती नृत्यांगना जिसके बदन पर कैबरे डांस के वस्त्र हैं। दूसरा दृश्य एक यथार्थवादी दृश्य में अभिनेता-अभिनेत्री प्रस्तुति के दौरान पूर्ण नग्न हो जाते हैं। तीन- कब्र दिखाने के लिये मैदान में बड़े-बड़े गड्ढे खोदकर उसमें से भूत निकालना वो भी मात्र दो मिनिट के लिये यह आधुनिक प्रयोगवादी सेट डिजाईन है। दृश्य चार कुछ दर्शक खड़े हैं, अलग-अलग स्थानों पर अलग-अलग रंग गतिविधियां हो रही हैं, कहीं मकड़ी का जाला लटका है तो कहीं एक लड़की मेकअप कर रही है, एक आदमी खुद से बड़बड़ा रहा है, एक शीशे के सामने गुड़िया लटकी है, बीच में एक वीडियो चल रहा है, जिसमें युद्ध दृश्य दिखलाये जा रहे हैं। कानफोडू संगीत भी है, दर्शकों को बारी-बारी से प्रत्येक जगह जाना है और प्रस्तुति समाप्त खर्चा लगभग 25 से 35 लाख रूपया। ये देश की जनता के टैक्स के पैसे का साफ-साफ दुरूपयोग है। इनमें काम करने वाले नेपथ्यकर्मी अपने रहन-सहन और कपड़ों से और हेयर स्टायल से किसी अन्य गृह के प्राणी लगते हैं। समाज इन्हें जोकर की तरह देखता है, और ये स्वयं को बौद्धिक रंगकर्मी- जो समाज को बदलने चला है।

असल समस्या है, मूल विचार, शिक्षा और गहन प्रशिक्षण के अभाव की। इनसे कुछ विदेशी रचनाकारों के नाम तो सुनने को मिलेंगे पर भारतीय रचनाकार और उनके नाम तो छोड़ दें, वे तो अपनी धर्म, जाति, परम्परा और संस्कृति तक से अनभिज्ञ हैं। ऐसे में कुछेक वर्ष तथा प्रयोगशील रंगमंच में बिताने के बाद वे न तो महानगरों में स्वीकृत होते है, और न ही अपने घर या प्रदेश लौटने की कोई संभावना का द्वार उनके लिये खुला होता है। तो वे फिर छोटे और बड़े पर्दे की ओर चले जाते हैं, वहां के बारे में भी कोई ट्रेनिंग लिये बगैर अपना कैरियर बनाने की असफल कोशिश करते हैं, और मुंह की खाते हैं। भारतीय कला और संस्कृति में दासता, दीनता, अवसाद, अकेलापन नहीं है, वरन् यहां जीवन का उत्सव है। जहां मृत्यु भी जीवन का एक पुन: द्वार है और वो भी मात्र शरीर के लिये आत्मा तो अजर अमर है। यही कारण है कि भारतीय कलाएं एकात्म् मानववाद में विश्वास रखती हैं, समूची मानवता और विश्व कल्याण की कामना करती हैं। उसमें जीवन का गान है ''करूणा का उत्स है, अपने अस्तित्व में विश्वास है और निराकार से साकार होने की कल्पना भी और पद्धति भी।'' भारतीय कला अपनी सांस्कृतिक दृष्टि में प्रकृति से सीधे जुड़ी हुई है, सूरज, चांद, तारे, पेड़-पक्षी, नदियां, जंगल, पहाड़ जहां तक की जानवर तक इसमें चरित्र की तरह उद्घाटित होते हैं। ये एक ऐसा तथ्य है जो अन्य किसी आयातित संस्कृति में दृष्टिगोचर नहीं होता है, यही हमारी कला और संस्कृति को मौलिक भी बनाता है और अनूठा भी। आज के रंगकर्मियों को कलाधर्मियों को इस ओर सोचने विचारने की आवश्यकता है, ताकि आज जो समाज हमारे सामने है उससे सीधे जुड़कर संवाद कर अपनी कला को और अधिक परिष्कृत किया जाये, उसे और अधिक धारदार और नोंकदार बनाया जाये, अन्यथा रंगमंच के सामाजिक औचित्य पर भी सवाल उठना लाजिमी है। एक गहरी समवेत इच्छाशक्ति की दरकार है।

भारतीय कला अपनी सांस्कृतिक दृष्टि में प्रकृति से सीधे जुड़ी हुई है, सूरज, चांद, तारे, पेड़-पक्षी, नदियां, जंगल, पहाड़ जहां तक की जानवर तक इसमें चरित्र की तरह उद्घाटित होते हैं। ये एक ऐसा तथ्य है जो अन्य किसी आयातित संस्कृति में दृष्टिगोचर नहीं होता है, यही हमारी कला और संस्कृति को मौलिक भी बनाता है और अनूठा भी।

जीवन की पहली पाठशाला आज खंडित

जयप्रकाश चौकसे

शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों और आदर्श के हिमायती जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' की स्मृति में व्याख्यान माला की शुरुआत एक अगस्त को उनकी कर्मभूमि खंडवा में हुई। वनमाली सृजन पीठ के इस वैचारिक अनुष्ठान के प्रथम वक्ता प्रख्यात सिने आलोचक, पटकथाकार, उपन्यास लेखक जयप्रकाश चौकसे ने 'शिक्षा में मूल्य' विषय पर लंबा वक्तव्य दिया। 'रंग संवाद' के इस अंक में प्रस्तुत है व्याख्यान के मुख्य अंशों का पाठ।

स्व. माखनलाल चतुर्वेदी, वनमालीजी, अशोक कुमार, किशोर कुमार, अनूप कुमार के नगर खण्डवा वासियों को बुरहानपुर वासी जयप्रकाश चौकसे का प्रणाम!

'बुरहानपुरवासी' मैंने इसलिए कहा कि बॉम्बे में किशोर कुमार जी से मेरी कम से कम सौ बार भेंट हुई है और मेरी फिल्मों में उन्होंने चौदह-पन्द्रह गाने गाये हैं। वे अपना परिचय हमेशा ऐसे ही देते थे- 'खण्डवा वाले किशोर कुमार का नमस्कार'। इसीलिए मैंने अपने आपको 'बुरहानपुर वाला' कहकर सम्बोधित किया है। मैं क्रिकेट खेलने खंडवा बहुत आता रहा हूँ। एक जमाने में जब क्रिकेट का 'मण्डलोई कप टूर्नामेण्ट' होता था, उसमें भी मैं बुरहानपुर की टीम रिप्रजेण्ट करने आया था। उस समय के कलेक्टर साहब थे, यहाँ की टीम के लीडर थे। खण्डवा के साथ और भी स्मृतियाँ जुड़ी हैं।

आज का विषय है- 'शिक्षा में मूल्य'। यहाँ नीलकण्ठ कॉलेज के प्रिंसिपल साहब बैठे हुए हैं, और भी कई लोग हैं। शिक्षक हैं और मैं स्वयं 13 साल शिक्षक रह चुका हूँ। एक तरह से आज हम सब शिक्षक यहाँ पर इकट्ठे हुए हैं। शिक्षा की जो मृत्यु हुई है, उसकी देह के चीरफाड़ के लिए हम लोग यहाँ एकत्रित हुए हैं। अब हम यहाँ उसके शव की जाँच करके कारण खोजना चाहते हैं कि ऐसा क्यों हुआ?

असल में यह विषय बहुत बड़ा है। श्रीमान् जी! बात शिक्षा में मूल्यहीनता की नहीं है। बात यह है कि इस समय समाज में कोई भी क्षेत्र ऐसा नहीं है जहाँ नैतिक मूल्य हों। चाहे वो राजनीति का क्षेत्र हो, चाहे वो साहित्य का क्षेत्र हो, चाहे वह सिनेमा का क्षेत्र हो। हर क्षेत्र में मूल्यहीनता व्यापक तौर पर अपने पैर पसार चुकी है। जब आप शिक्षा में मूल्यहीनता की बात कर रहे हैं तो आप समाज में भी मूल्यहीनता की बात कर रहे हैं। मेरी आज की बातचीत का प्रारम्भिक विषय 'शिक्षा में मूल्यों के पतन' के ऊपर होगा और बाद वाले विषय में उसका उपचार क्या है, मेरी नजर में क्या हो सकता है, यह भी मैं बताने की चेष्टा करूँगा। क्योंकि केवल बीमारी बताने से आप डॉक्टर नहीं हो जाते। औषधि भी बताना चाहिए आपको। ये कर्त्तव्य है आपका।

मैं बात यहाँ से शुरू करता हूँ कि हर शिशु की पहली पाठशाला उसका परिवार होता है और पाठशाला 'घर से दूर घर' होता है। इन दो जगहों उसको शिक्षा मिलती है। सबसे पहली बात मैं आपसे यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तानी समाज में परिवार नाम की संस्था खण्डित हो चुकी है। अब हमारे परिवारों में नैतिक मूल्य नहीं रह गये हैं। ये ही भारतवर्ष की सारी सामाजिक व्याधियों का कारण है। केवल घर मजबूत हो जाने से, केवल घर में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो जाने से पूरे देश में परिवर्तन आ सकता है। मैं इस बात के खिलाफ हूँ कि भ्रष्टाचार विरोधी कानून बना दो। कानून से कोई समाज सुधरता नहीं है। समाज में सुधार अन्दर से लाना पड़ता है और अन्दर से समाज में सुधार परिवार ही ला सकता है।

मैं आपको अपना उदाहरण देता हूँ। मैंने 1982 में राजकपूर की 'प्रेमरोग' मध्यप्रदेश में प्रदर्शित की। ये वही जमाना था, जब एशिया टूर्नामेण्ट होने वाला था और इन्दिरा गांधी ने कलर टेलीविजन भारत में इण्ट्रोड्यूज कर दिया था। मैं 45,000/- रुपये का टेलीविजन लेकर घर आया। मेरी पत्नी ने कहा, 'इस 45,000/- में अगर कुछ पैसा राजकपूर का लगा है तो पूरा परिवार इस टेलीविजन

को देख सकता है, मैं नहीं देखूँगी।' उनका तात्पर्य राजकपूर के पैसे से चोरी की। याने कि 'प्रेमरोग' की कमाई में से चोरी करके मैंने टेलीविजन खरीदा है। इसलिए उन्होंने कहा कि मैं नहीं देखूँगी, आप लोग देखिए। मैं अपने कमरे में बैठती हूँ। उस दिन मेरे मन में यह विचार आया कि केवल परिवार में एक व्यक्ति खड़ा हो जाये कि हम भ्रष्टाचारी के साथ नहीं हैं- चाहे वह हमारा पिता हो, चाहे वह हमारी माता हो, चाहे वह हमारा भाई हो, सुधार आकर रहेगा।

'परिवार' नामक संस्था का टूट जाना भारतीय समाज की सबसे बड़ी त्रासदी है। भारतीय परिवार का टूटना इस तरह से शुरू हुआ कि आजादी के बाद महानगरों की तरफ पलायन शुरू हुआ कस्बों से और छोटे शहरों से लोगों का। इससे संयुक्त परिवार नाम की संस्था टूट गयी और एकल परिवारों का उदय हुआ।

संयुक्त परिवार के क्या लाभ हैं, क्या हानियाँ हैं- यह हमारा आज का विषय नहीं है, पर एक लाभ डेफिनेटली था कि दादा-दादी, नाना-नानी बैठकर शाम को बच्चों को जातक कथाओं के माध्यम से, रामायण के माध्यम से नैतिकता सिखाते थे और चार-पाँच भाइयों और बहनों के बीस-पच्चीस बच्चे एक ही परिवार में पलते थे। तो साथ में रहना, साथ में झगड़ना, साथ में खेलना, उठना, बैठना- ये एक बहुत बड़ी शिक्षा थी जो अपरोक्ष रूप से संयुक्त परिवार में मिलती थी। लेकिन नौकरी की तलाश में जब कोई युवक महानगर गया और उसके साथ केवल पत्नी और बच्चा है, तो इस परिवार में बच्चे ने अपना पहला झूठ अपने पिता से सीखा। जब पिता ने कहा, घंटी बज रही है, आने वाले को कह दो कि पिताजी घर पर नहीं हैं। यह पहला झूठ बच्चा अपने पिता के मुँह से सुनता है।

> हर शिशु की पहली पाठशाला उसका परिवार होता है और पाठशाला 'घर से दूर घर' होता है। इन दो जगहों पर उसको शिक्षा मिलती है। हिन्दुस्तानी समाज में परिवार नाम की संस्था आज खण्डित हो चुकी है। अब हमारे परिवारों में नैतिक मूल्य नहीं रह गये हैं। ये ही भारतवर्ष की सारी सामाजिक व्याधियों का कारण है। केवल घर मजबूत हो जाने से, केवल घर में नैतिक मूल्यों की स्थापना हो जाने से पूरे देश में परिवर्तन आ सकता है।

मैं यहाँ एकल परिवारों की बुराई करने के लिए नहीं आया हूँ, न संयुक्त परिवार की गरिमा-गाथा कहने आया हूँ, मैं सिर्फ यह बता रहा हूँ कि शिक्षा की हानि किस तरह से होना शुरू हुई है, कि परिवार में नैतिक मूल्य टूट गये। फिर आर्थिक उदारवाद के बाद बाजार और विज्ञापनों की ताकतों ने परिवार पर इतने दबाव पैदा किये हैं कि उसका बिखरना निश्चित हो गया। क्योंकि सन् 1991 के बाद बाजार की ताकतों ने और विज्ञापन की ताकतों ने सुविधाओं के सपने जगाये, उन्होंने लोगों के मन में सुविधाओं का एक स्वर्ग रच दिया और सब लोग सुविधाभोगी हो गये।

आज भारतवर्ष में क्रान्ति की कोई सम्भावना ही नहीं है, क्योंकि क्रान्ति हमेशा मध्यम वर्ग, मजदूर वर्ग या कृषक वर्ग करता है। ये तीनों वर्ग के लोग अपनी-अपनी आय की सीमा में ऐय्याश हो चुके हैं। रु. 3,000-4,000/- कमाने वाला आदमी रु. 800/- का मोबाइल खरीदता है। जिस आदमी की इनकम रु. 7,000-8,000/- पहुँच जाती है तो वह सबसे पहले रेफ्रिजरेटर खरीदता है, एसी खरीदता है, कार उसके सपने में हमेशा बसी रहती है। तो हम लोगों का सारा ध्यान अब सुविधाओं की तरफ चला गया। बाजार अपनी कूटनीति में सफल हो गया, उसने इन तीनों वर्ग के मन से क्रान्ति का भाव मिटा दिया हमेशा के लिए। कोई उम्मीद नहीं है कि मध्यमवर्ग क्रान्ति करेगा, कोई उम्मीद नहीं है कि मजदूर क्रान्ति करेगा, कोई उम्मीद नहीं है कि कृषक वर्ग क्रान्ति करेगा, उनको आत्महत्या से फुर्सत नहीं है। कैसे होगा इस देश में? मेरा ऐसा सोचना है, जो बहुत बुरी तरह से गलत भी हो सकता है, कि अगली क्रान्ति पूँजीपति को करना पड़ेगी। मैं बताता हूँ उसका कारण क्या है?

मेरे एक दोस्त हैं विनोद खेमकर, इन्दौर में। वह ओएनजीसी के कान्ट्रेक्टर हैं समुद्र से तेल निकालने वगैरह के। बहुत अमीर व्यक्ति हैं। उनको सफाई का बहुत शौक है। हर 10 मिनट में हाथ धो लेते हैं। उनकी गाड़ी में 10-12 थर्मस रहते हैं। एक ही टेम्प्रेचर का पानी पीते हैं। और मैं जब भी उनके घर जाऊँ तो बड़े गर्व से अपना 20 बाय 20 का एक बाथरूम दिखाते हैं। उनके घर में 16 सेवक हैं। ये सुबह सब आते हैं, गर्म पानी के फुव्वारे से नहाते हैं, साफ-सुथरी वर्दी पहनते हैं और उनकी सेवा करते हैं।' मैंने कहा, 'खेमकर साहब, आप बहुत मूर्खता की बातें कर रहे हो। ये जो कीटाणु अपने शरीर के अन्दर लेकर आयेगा, ये आपके डिटॉल साबुन से नहाकर मिटने वाला नहीं है, गर्म पानी के शॉवर से मिटने वाला नहीं है। अगर आप सचमुच चाहते हैं कि आपका जीवन सुरक्षित रहे तो एक दिन जाकर देखो कि आपके 16 सेवक कहाँ-किन परिस्थितियों में रहते हैं।' 6 महीने बाद उन्होंने मुझे फोन किया कि- तुम्हारे कहने के दूसरे ही दिन मैं नीचे गया और देखा कि वो लोग झोपड़पट्टी में रहते हैं, गंदे मकानों में रहते हैं। मैंने एक ठेकेदार को बुलाकर उन 16 मजदूरों के मकानों को पक्का बनवाया, उसमें फर्शी लगवायी, उनमें टॉयलेट बनवाया कि ये वहीं से साफ-सुथरे होकर आयें।'

देखिए, पाली हिल पर रहने वाला आदमी या बम्बई के श्रेष्ठीवर्ग में रहने वाला आदमी, जब उसका बेटा कार से किसी को ठोककर घर आता है तो वह पुलिस वाले को 5.00 लाख रुपये देकर भगा देता है, लेकिन जब धारावी की झोपड़पट्टी में प्लेग फैलेगा और प्लेग के कीटाणु उसकी संगमरमरी हवेली के पास आयेंगे तो 5.00 लाख रुपये लेकर लौटने वाले नहीं हैं। वो रिश्वतखोर नहीं हैं, क्योंकि वो मनुष्य नहीं हैं, वो कीटाणु हैं, वो अन्दर घुसकर रहेंगे।

> पाठशालाओं का क्या हाल है? पाठशालाएँ गोडाउन बन चुकी हैं, जहाँ बच्चे ठूँस-ठूँसकर भरे हुए हैं और एक चेहराविहीन शिक्षक पढ़ाने का स्वाँग करता है, जिसके पास अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और इतनी बड़ी कक्षा में उसका कोई भावनात्मक तादात्म्य छात्र के साथ नहीं है। तो शिक्षा का पहला घाटा हुआ कि वह इम्पर्सनल हो गयी। पहले वो पर्सनल थी। वनमाली जी को अपने विद्यार्थियों के नाम याद रहते थे। वे चेहराविहीन, नामरहित कक्षा को नहीं पढ़ाते थे। उनको मालूम था कि विष्णु खरे यहाँ बैठता है, राधेश्याम यादव यहाँ बैठता है, पहारे वहाँ बैठता है। वे तो विद्यार्थी को घर जाकर देखते थे कि वह तीन दिन से नहीं आया है तो सचमुच टाइफाइड हुआ है या बहाना करके घर पड़ा है। कहाँ है वो शिक्षक वनमाली की तरह, जो विद्यार्थी के घर जाकर मालूम करें कि बीमार है या नहीं है? किधर है, मुझे बताइये।

मैं निरन्तर यह प्रयास करता हूँ कि अमीरों को समझाता रहूँ कि आप अपनी रक्षा के लिए कुछ हद तक गरीबी मिटाइये। हमारी रक्षा करने के लिए हमारे ऊपर दया करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दया का गुणगान करके सदियों तक हमको गुलाम बनाकर रखा है। हमको दया नहीं चाहिए, भिक्षा नहीं चाहिए, आप हमको हमारा हक दीजिये। और ये आज नहीं तो कल, अगले 25 वर्षों में होकर रहेगा। क्योंकि भारतवर्ष इस समय बहुत बड़ा कारखाना है जहाँ धड़ल्ले से अमीर लोग पैदा हो रहे हैं।

इस समय दुनिया के जो 20 सबसे अमीर आदमी हैं, उनमें 7 अमीर भारत के हैं। मैं कहता हूँ खाली 2-3 औद्योगिक घराने मुम्बई में ऐसे हैं, कि यदि वो अपना आधा पैसा भी देश के विकास में लगा दें तो विदेशों से सहायता माँगने की आवश्यकता नहीं है। इस देश में धन की कमी नहीं है। इस देश के मन्दिरों में, गुरुद्वारों में, गिरिजाघरों में अथाह सम्पत्ति है। आप क्या समझते हैं, चैन्नई के एक टेम्पल में क्या चढ़ावा आता होगा! 7-8 करोड़ रुपये प्रतिदिन। शिर्डी साईबाबा के यहाँ क्या चढ़ावा आता है! आप ब्लैकमनी ढूँढने स्विट्जरलैण्ड के बैंकों में जा रहे हैं। अपने मन्दिरों में जाओ, गुरुद्वारों में जाओ, आपको अथाह धन मिलेगा।

श्रीमान् जी, आज शिक्षा में मूल्य का संकट बड़ा संकट नहीं है, इससे बड़ा संकट ये पृथ्वी है। पिछले 5 हजार सालों में इस पृथ्वी से 10 प्रतिशत खनिज पदार्थ मनुष्य ने निकाले थे, लेकिन पिछले डेढ़ सालों में 40 प्रतिशत खनिज वो धरती से निकाल चुका है। आपकी नदियाँ सूख रही हैं, आपके पहाड़ वृक्षविहीन हो रहे हैं, आपके खाने की हर चीज में मिलावट है, आपकी औषधि में मिलावट है। हम कहाँ जा रहे हैं, यार? किस तरफ जा रहे हैं हम, ये बहुत गम्भीरता से सोचने का है। मैं फिर कहता हूँ कि केवल परिवार में नैतिक मूल्यों की स्थापना होते से ही ये देश बदल जायेगा। कोई कानून इस देश को बदल नहीं सकता। ये बड़े आस्थावान लोगों का देश है। बड़े ही प्रेमल हृदय लोगों का देश है। ये बदलेगा प्रेम से। बड़ी-बड़ी बातों से कुछ नहीं होने वाला है कि विदेशों से धन आ जायेगा, विकास कर लेंगे।

गाँधी जी की सारी शिक्षा हम लोग भूल गये हैं। गाँधी जी का 'स्वदेश' क्या था? अपने देश का धन, अपने देश के लोगों की मेहनत से देश बनाना है, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है। अहमदाबाद से 35 किलोमीटर दूर 'सातरा' नामक एक छोटा-सा कस्बा है, जहाँ गाँधी जी ने 1920 में पहले विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। गुजरात विद्यापीठ के अन्तर्गत पहला शिक्षा केन्द्र सातरा में सन् 1920 में खुला है। मैं वहाँ लेक्चर देने जा चुका हूँ। आप जरा इस पर गौर कीजिए, वहाँ पर संगमरमर में अक्षरों से लिखा है- 'महात्मा गाँधी कथन'- 'जो शिक्षण संस्थाएँ अपने पाठ्यक्रम में नैतिकता का समावेश नहीं करेंगी और व्यवहारिक जीवन में कैसे जीना है इसको शामिल नहीं करेंगी, वो शिक्षण संस्थाएँ मृत समान हैं।'' ये 1920 में गाँधी जी का संदेश था।

1922 में पराढ़करजी- जो तिलक जी के 'केशरी' में सह-सम्पादक थे, ने इस पर एक फिल्म बनायी। फिल्म का नाम था- 'वन्देमातरम आश्रम'। वह फिल्म गाँधी जी के एक वाक्य से शुरू होती है। उस फिल्म का कथानक जैसा भी था, जो भी था, उसी को आपने बहुत सुघड़ रूप में 2010 में 'थ्री इडियट्स' में देखा है। वो वही फिल्म है जो 1922 की फिल्म है, जिसको नये रूप में, नये परिवेश में, बड़े सितारों के साथ 'थ्री इडियट्स' के नाम से बनाया गया है। 'थ्री इडियट्स' का पहला मॉडल, असल में क्या है, कि वह आदमी अपने नाम से डिग्री लेता ही नहीं है। उसने किसी और के नाम से डिग्री ली है। वह तो ज्ञान अर्जित करने आया था। डिग्री उसने किसी और को दे दी।

तो, घर नामक संस्था, परिवार नामक संस्था टूट गयी। पाठशालाओं का क्या हाल है? पाठशालाएँ गोडाउन बन चुकी हैं, जहाँ बच्चे ठूँस-ठूँसकर भरे हुए हैं और एक चेहराविहीन, नामरहित कक्षा में एक शिक्षक पढ़ाने का स्वाँग करता है, जिसके पास अपना कोई व्यक्तित्व ही नहीं है और इतनी बड़ी कक्षा में उसका कोई भावनात्मक तादात्म्य छात्र के साथ नहीं है। तो शिक्षा का पहला घाटा हुआ कि वह इम्पर्सनल हो गयी- पहले वो पर्सनल थी।

वनमाली जी को अपने विद्यार्थियों के नाम याद रहते थे। वे चेहराविहीन, नामरहित कक्षा को नहीं पढ़ाते थे। उनको मालूम था कि विष्णु खरे यहाँ बैठता है, राधेश्याम यादव यहाँ बैठता है, पहारे वहाँ बैठता है। वे तो विद्यार्थी को घर जाकर देखते थे कि वह तीन दिन से नहीं आया है तो सचमुच टाइफाइड हुआ है या बहाना करके घर पड़ा है। कहाँ है वो शिक्षक वनमाली की तरह, जो विद्यार्थी के घर जाकर मालूम करें कि बीमार है या नहीं है? किधर है, मुझे बताइये।

चौथी फेल चतुर

मैंने हाल ही एक पिक्चर देखी- 'दृश्यम्'। उसमें नायक चौथी कक्षा फेल है। उसने चाय ठेला चलाकर, अलग-अलग धंधे करके पैसा कमाया है। अभी वह केबल ऑपरेटर है और उसका युद्ध चल रहा है डीआईजी से। डीआईजी पुलिस तब्बू है। उनका बेटा गायब है। वह कहती हैं कि ये अनपढ़ है, इसको जाल में फँसाने में दो दिन लगेंगे। पूरा पुलिस फोर्स अपनी ताकत लगाकर थक जाता है लेकिन वो उसको जाल में नहीं फँसा पाते। आखिर में वह परिवार की ६ वर्ष की बच्ची को अलग ले जाकर पीटना शुरू करता है और वह बच्ची बोलती है कि हमारे घर की खिड़की के सामने बगीचे में वो लाश गड़ी है। उसने रात में उठकर देखा था। डीआईजी पुलिस दल-बल और पत्रकारों को लेकर वहाँ पहुँचती हैं कि अब खुदाई शुरू होगी और इसका परिणाम निकलेगा। खुदाई होने के बाद वहाँ एक कुत्ते की लाश निकलती है और जनता डीआईजी और पुलिस को पीटने पर आमादा है।

फिल्म का नायक अगिन, चौथी फेल, इतना चतुर है! उसको मालूम था कि परिवार में और कोई नहीं टूटेगा। बड़ी बेटी नहीं टूटेगी, पत्नी नहीं टूटेगी, यह छः वर्ष की बालिका टूट सकती है तो उसने पहले ही दिन, रात में लाश बदल दी। मजे कि बात यह है कि वो लाश उसने घर के सामने बन रहे नये पुलिस थाने में जाकर गाढ़ दी है। फिल्म के अन्त में ठेकेदार कहता है कि भैया, अब तो सब मेरा काम हो गया, मैंने फर्शी लगा दी, टाइल्स लगा दिये, रंग-रोगन कर दिया। और वह मुस्कराता है। फिर सब लोगों को लाइन में लगना पड़ता है। नया डीआईजी उसको बुलाकर डाँटता है। ये सबसे बड़ा चिन्ता का सीन है, वह कहता है- तुम समझते हो चौथी फेल, पुलिस विभाग को हरा दिया, हम तुझे छोड़ेंगे नहीं। हम तेरे को किसी न किसी अपराध में फँसाकर रहेंगे। मैं वह लाश ढूँढकर रहूँगा।

यार, डायरेक्टर से चूक हो गयी। बाहर निकलकर उसको बोलना था कि, मूर्ख, तू जहाँ बैठा है, उसी के नीचे लाश गड़ी है। थाने में यह बोलना चाहिए था। उसने सिर्फ संकेत दिया है। संकेत से भारतवर्ष में काम नहीं चलता। मोटी फिल्म बनानी पड़ती है। जाओ, रूम नं. 113 में दस लाख देकर आओ। वह रूम नं. 213 के सामने खड़े होकर कहता है- भैया, ये 213 है न। हाँ है। ऐसा हमारी फिल्मों में होता है। एक जगह डीआईजी तब्बू कहती है कि मैं समझी थी ये चौथी फेल है, दो दिन में पकड़ लेंगे। लेकिन इसने ऐसी चालें चली हैं कि ये बहुत बड़ा विद्वान है। और ये कैसा विद्वान है? चौथी फेल है, इसने फिल्में बहुत देखी हैं। ये फिल्म की पाठशाला से निकला हुआ लड़का है।

1963 में डॉ. के.के. खेमकर ने मुझे अंगेजी साहित्य पढ़ाया था। तीस साल बाद 1993 की बात है। यशवन्त कॉलेज के सामने वॉकिंग ट्रेक है। सुबह 6.00 बजे ठण्ड के दिन कोहरा छाया हुआ था। मैंने दूर से खेमकर साहब को पहचान लिया, क्योंकि उनकी हाइट 6 फुट 4 इंच थी। मुझे लगा कि इतने कोहरे में मैं जाकर कहूँ कि सर मैं जयप्रकाश चौकसे, 63 के बैच में मुझे आपने पढ़ाया है, तो यह उनके लिए असुविधाजनक होगा। थोड़ी देर और घूमते हैं, जब कोहरा छँट जायेगा तब जाकर उनसे मैं बात करूँगा। श्रीमान् जी, मैं उनके पास से ऐसे गुजरा और उनकी गरजदार आवाज गूँजी- 'चौकसे हो न!' मैं पलटा, मैंने चरण छुए। बोले, 'देखो 80 वर्ष की आयु में मेरी दृष्टि और स्मृति कमजोर नहीं हुई है। मैं अपने हर भूतपूर्व विद्यार्थी को उसके नाम से जानता हूँ और वह इस समय कहाँ पर क्या कर रहा है इस सबकी जानकारी मेरे पास है।' छात्र और शिक्षक के बीच की यह आत्मीयता किधर से लाइयेगा?

जब दिल्ली में सत्ता के दो केन्द्र थे- मनमोहन सिंह जी कुछ कहते थे और सोनिया गांधी जी कुछ कहती थीं। उस जमाने में शिक्षा मंत्री जी ने यू.जी.सी. नामक संस्था के समानान्तर नेशनल नॉलेज कमीशन की स्थापना की। यानी पॉलिटिकल सत्ता के दो केन्द्र थे। उन्होंने शिक्षा के भी दो केन्द्र कर दिये। लगातार नेशनल नॉलेज कमीशन और यू.जी.सी. में झगड़े होते रहे और एक मॉड्यूलर एजुकेशन सिस्टम निकाला गया। उस सिस्टम के तहत एक विशेष योग्यता प्राप्त शिक्षक दो महीने जाकर अपना विषय पढ़ायेगा और फिर दूसरे कॉलेज में चला जायेगा। एक विजिटिंग प्रोफेसर की तरह वह घूमता रहेगा। अब कैसे पर्सनल जान-पहिचान हो? मॉड्यूलर सिस्टम ऑफ एजुकेशन में आपने शिक्षक को व्यक्ति की जगह एक साया बना दिया, जो डॉक्टर की तरह विजिटिंग है। बीमार हुए आप तो वह आ गया, इंजेक्शन लगा दिया और वह फीस लेकर चला गया।

सच मानिये, शिक्षा में पर्सनल टच का होना बहुत जरूरी है, छात्र और शिक्षक के बीच में भावनात्मक तादात्म्य होना बहुत जरूरी है अन्यथा शिक्षा पूरी नहीं होगी। आज इसका अभाव है। भारत के प्रमुख अर्थशास्त्री खण्डू रांगड़ेकर का कहना है कि इस समय भारत में सबसे अधिक मुनाफा देने वाला व्यवसाय शिक्षा है। नतीजा क्या है? नेताओं और पूँजीपतियों की श्रृंखला खुल गयी है। किसी के पास 100 कॉलेज हैं, किसी के पास ७० कॉलेज हैं। कोई प्राइवेट मेडिकल कॉलेज है, कोई प्राइवेट इंजीनियरिंग कॉलेज है या प्राइवेट डेन्टिस्ट कॉलेज है। पूरी शिक्षा पूँजीपतियों और नेताओं के हाथ में चली गयी है।

अगर आप भारत के नक्शे पर इस समय कहाँ-कहाँ शिक्षण संस्थाएँ हैं, काले-काले डॉट बनायें तो पूरा देश आपको काले धब्बे के रूप में नजर आयेगा। कोई विदेशी देखे तो- अरे, भारत इतना शिक्षित देश है, इतनी सारी संस्थाएँ खुली हुई हैं। लेकिन हमने एक नयी जाति पैदा की है शिक्षित जहालत। शिक्षित व्यक्ति की मूढ़ता, ये हमने एक नयी जाति पैदा की है और ये जाति सारे भ्रष्टाचार की जड़ में है। यू गॉट टु बी एजुकेटेड टु बी करैप्ट। कागजों की हेराफेरी गाँव का आदमी क्या करेगा, मामूली आदमी क्या करेगा? बड़ी बुद्धि लगती है हेराफेरी करने में। ये हमने पैदा कर दिया है। वह शिक्षित है पर बिल्कुल जाहिल है, बिल्कुल गँवार है। उससे तो अनपढ़ आदमी अच्छा है।

पाठशालाओं के पतन के कारण यह है कि वो पूँजीपतियों के हाथ में चली गयी हैं। इस समय पाठशालाओं में एक चीज बड़ी खतरनाक हो रही है, बच्चों

में प्रतिस्पर्धा करायी जाती है। जो लड़का सबसे अव्वल आयेगा कक्षा में उसे पुरस्कृत किया जायेगा। आपको एक सत्य घटना बता रहा हूँ लखनऊ की। एक विधवा अपने बच्चे को बचपन से कान में मंत्र देती है कि तुम्हें हमेशा नम्बर एक आना है, नम्बर दो नहीं। वह माँ डिवोटेड है। रात में बच्चा पढ़ रहा है तो वह एक-एक घण्टे में उसको गर्म दूध देती है, कॉफी देती है और वह भी जागती है रातों में। बच्चा भी रात पर पढ़ता है, माँ भी जागती है रात भर। अब ये भावना ऐसी कूट-कूटकर भर दी है, नवीं क्लास तक वह प्रथम आता है, दसवीं कक्षा में ट्रांसफर पर उस शहर में कोई लड़का आया है और वह उसको बीट कर देता है। वह नम्बर दो आता है और नया लड़का नम्बर एक आता है। ग्यारहवीं में भी यही होता है। अब माँ बहुत दुखी है। नम्बर एक आना है, नम्बर एक आना है। तो बारहवीं परीक्षा के पन्द्रह दिन पहले वह नम्बर एक आने वाले लड़के की यह सोचकर हत्या कर देता है, कि इसकी हत्या किये बगैर मैं नम्बर एक नहीं आ सकता। बाद में खोजबीन में पुलिस उसको और उसकी माँ को अरेस्ट कर लेती है। यह सत्य घटना है।

अब शिक्षा इस कदर सफलता केन्द्रित हो गयी है तो शिक्षा का उद्देश्य क्या रह गया है? सफलता पाना या छात्र के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। वह कला में भी निपुण बनें। सबसे बड़ी बात वो स्वतंत्र विचार शैली को जन्म दे। किसी बात पर वह यकीन नहीं करेगा, तर्क से तौलेगा- हाँ, ये ठीक है, ये ठीक नहीं है। लेकिन जो व्यवस्था है, जो बाजार है, वो चाहते नहीं कि स्वतंत्र विचार शैली का विकास हो, क्योंकि स्वतंत्र विचार शैली के विकास से उनका साम्राज्य डगमगा जायेगा। आदमी सोचने लगेगा, समझने लगेगा तो उसको समझ में आयेगा कि मैं लूटा कहाँ जा रहा हूँ!

होता यह है, कि आपने बच्चे में कैसी मानसिकता भर दी है, कि प्रथम आने के लिए वह हत्या तक करने को तैयार हो गया। ये क्या बात है? क्या दो नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? तीन नम्बर आने वाले जीवित नहीं रहते? ये जो जीवन के मूल्य बदले हैं, ये जो परिवार के मूल्य बदले हैं, उसकी कमीज मेरी कमीज से उजली क्यों है, इस समय यह सिण्ड्रोम चल रहा है और इसमें शिक्षा को कोई लाभ नहीं है, यह हानि है।

मैं आपके सामने बड़ी डींगें हाँक रहा हूँ। ये काम मैंने भी किया है। जब मैं शिक्षक केंडीडेट के रूप में हिन्दी में एम.ए. कर रहा था, डी.के. जैन साहब हमारे हिन्दी के विभागाध्यक्ष थे, मैंने उनसे जाकर पूछा कि अच्छे नम्बर कैसे आयेंगे? उन्होंने कहा, बहुत सरल है। एम.ए. फाइनल में एक पेपर है, जो पूरा संस्कृत ग्रामर पर आधारित है। तो 50 पेज की संस्कृत ग्रामर की किताब घोंट लो, उसमें 80 नम्बर मिल जायेंगे। फर्स्ट क्लास आ जायेगा। और वो मैंने किया। मुझे आज भी संस्कृत का एक भी शब्द नहीं आता, पर वो संस्कृत की किताब घोंटकर पी गया। ये घोंटकर पीना ही गलत है। आप विषय को समझें या नहीं समझें, हमने कक्षाओं में प्रश्न पूछने से लोगों को हतोत्साहित किया है। लड़का घबराकर प्रश्न नहीं पूछता। नहीं मालूम है तो चुप रह जाता है। बाकी लड़के हँसने लगते हैं कि इस मूर्ख को ये भी नहीं आता। बच्चे बहुत निर्मम होते हैं। बच्चे भोले हैं, आप यह भूल जाइये। उनको मखौल उड़ाने का बड़ा शौक होता है।

एक दूसरी घटना है। प्रोड्यूसर प्रकाश मेहरा के पार्टनर थे सत्येन्द्र पाल चौधरी। उनका एक इकलौता बेटा था और वह पढ़ने में ब्रिलियेण्ट था। जब उसका बारहवीं में रिजल्ट आया और वह फेल हो गया तो उसने आत्महत्या कर ली। जब हम लोग उसकी शवयात्रा लेकर निकल रहे थे तो यूनिवर्सिटी का एक ऑफीसर दौड़ते हुए आया, कहा कि रिजल्ट देने में हमसे त्रुटि हो गयी, ये फर्स्ट क्लास फर्स्ट है। ये फैक्ट है। ये दोनों घटनाएँ मैंने देखी हैं। आपने शिक्षा का क्या कर दिया? कोई हत्या कर रहा है, कोई आत्महत्या कर रहा है? सत्येन्द्र पाल चौधरी अभी जीवित हैं, दिल्ली में हैं। लड़के की मृत्यु के बाद उन्होंने सारी फिल्मों के अधिकार बेच दिये। दिल्ली में उनका फार्म हाउस है, अब उसमें अकेले रहते हैं।

हमारे मंत्री जी दिल्ली में कहते हैं कि किसानों की आत्महत्या का कारण गरीबी नहीं है, उनकी नपुंसकता है। शर्म आना चाहिए! आप धरती पुत्र को नपुंसक कह रहे हैं? आप बीज डालकर धरती पर सोना निकालने वाले को नपुंसक कह रहे हैं? क्या बात है! बेवकूफ सरकारें हैं, अर्थहीन जीवन प्रणाली है। ये सब घटनाएँ एक के बाद एक होती जा रही हैं।

अब आपकी शिक्षा इस कदर सफलता केन्द्रित हो गयी है तो शिक्षा का उद्देश्य क्या रह गया है? सफलता पाना या छात्र के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। वह कला में भी निपुण बनें। सबसे बड़ी बात वो स्वतंत्र विचार शैली को जन्म दे। किसी बात पर वह यकीन नहीं करेगा, तर्क से तौलेगा- हाँ, ये ठीक है, ये ठीक नहीं है। लेकिन जो व्यवस्था है, जो बाजार है, वो चाहते नहीं कि स्वतंत्र विचार शैली का विकास हो, क्योंकि स्वतंत्र विचार शैली के विकास से उनका साम्राज्य डगमगा जायेगा। आदमी सोचने लगेगा, समझने लगेगा तो उसको समझ में आयेगा कि मैं लूटा कहाँ जा रहा हूँ। आप क्या समझते हैं, गरीबी कोई नैचुरल प्रोडक्ट है? ईश्वर के द्वारा बनायी हुई है गरीबी? नहीं। गरीबी इज मैन्युफेक्चर। इण्डिया और दुनिया में लॉर्ज स्केल पर गरीबी बढ़ायी जाती है, अन्यथा हमारे लिए सेवक कहाँ से आयेंगे, अर्दली कहाँ से आयेंगे, कारकून कहाँ से आयेंगे, बिजनेस मैनेजर कहाँ से आयेंगे?

विजय सिंघानिया बहुत बड़े कैपेटिलिस्ट हैं। मेरे अभिन्न मित्र हैं। एक बार हम लोग दिल्ली गये थे। उनको 77 हजार फीट पर वैलून ले जाने का पुरस्कार मिलना था। हम उनके पर्सनल जेट में गये थे। उनके जेट में उनको टेलीफोन पर बात करने की सुविधा है। जब हम लौट रहे थे। कोई आधा घण्टे तक वह कुछ औरतों से बात करते रहे। मैंने कहा, सिंघानिया साहब, आप अरबपति हैं और विमान में मैं देख रहा हूँ कि आधे घण्टे से आप लड़कियों से बात कर रहे हैं। आपको लड़कियों से फुर्सत कभी मिलती है? आपने धन कैसे कमाया? उन्होंने कहा, 'अभी बताता हूँ।' इन्टरकॉम पर कहा, दोनों पायलट अन्दर आये। दोनों अन्दर आये और मेरे को इण्ट्रोड्यूज किया, फिर वो चले गये। बोले, 'दोनों पायलट अन्दर आये थे तो

हवाई जहाज कैसे चल रहा था? मशीन में ऑटो पायलट सिस्टम होता है। ऑटो पर डाल दो, वह चलता रहेगा।' कहने लगे, 'सारे उद्योगपतियों के बिजनेस ऑटो पायलट पर चलते हैं। हम अच्छे मैनेजर चुन लेते हैं, वो धन्धा करते हैं, हम लड़कियाँ खोजते रहते हैं। हमको कोई जरूरत नहीं है धन्धा करने की।' दिस इज हाऊ? दिस कण्ट्री इज वर्किंग? हाऊ डज वर्किंग?

अब मैं इस सफलता पर केन्द्रित शिक्षा के बारे में आपको महाभारत की एक छोटी-सी घटना सुनाना चाहता हूँ। भीष्म पितामह ने द्रोणाचार्य को गुरु नियुक्त किया और द्रोणाचार्य पाँच पाण्डव और सौ कौरवों को लेकर जंगल की तरफ चले गये। थोड़ी दूर जाने के बाद विद्यार्थियों ने पूछा कि आपका आश्रम कहाँ है? उन्होंने कहा, 'मेरा कोई आश्रम नहीं है। यहाँ पर अच्छा है, हरियाली है, पास में नदी है। यहाँ आश्रम बनाते हैं। आप लोग मिलकर बनाओ। लकड़ियाँ काटो, बाँस काटो, घास लाओ, बनाओ। बेचारे बच्चे छः महीने तक परिश्रम करते रहे और आश्रम बन गया। शिष्यों ने कहा, 'महाराज, अब तो शिक्षा शुरू करो।' उन्होंने कहा, 'आधी शिक्षा तो हो गयी। जिस मूवमेन्ट में आपने झाड़ काटे वह तलवार चलाने का है, जिसमें आपने मिट्टी खोदी वह गदा चलाने का है। आधी शिक्षा हो गयी, अब मैं बाकी की शिक्षा दूँगा।' बाकी शिक्षा दी उन्होंने। जब पूरा कार्यक्रम खत्म हो गया 10 वर्ष का तो उन्होंने कहा- 'दुर्योधन, तुम अपने सौ भाइयों से कहो कि मशालें जलाकर इस आश्रम को जला दें।' उसने कहा, 'ये क्या कह रहे हैं आप? हमने इतने परिश्रम से बनाया और आप उसको जलाने का कह रहे हो? हम नहीं जलायेंगे।' फिर उन्होंने पाण्डवों से कहा कि आप लोग जला दो। पाण्डवों ने जाकर जला दिया। बोले, 'ये मेरा अन्तिम पाठ है। जब तक आप वस्तुओं का मोह नहीं त्यागेंगे तब तक आप अच्छे छात्र नहीं बनोगे।' यह कितना बड़ा लेसन है।

मैं आपको बताऊँ, दुनिया के सारे ग्रन्थों का सार महाभारत में है, लेकिन समस्या यह है कि महाभारत की विश्वस्त कॉपी हाथ नहीं लगती है। बाजार में जो उपलब्ध है वह कचरा है। वह असली महाभारत नहीं है। मैंने जीवन के बारह वर्ष इसमें लगाये हैं। मेरे पास महाभारत विषय से जुड़ी दो हजार किताबें हैं। मैंने उनका अध्ययन किया है। लेकिन बाजार में गलत महाभारत प्रचारित हो चुकी है और वो कितनी गलत है, मैं आपको इसका छोटा उदाहरण देता हूँ।

जब मैं टेलीविजन शो 'दस कदम' लिख रहा था। सोनी टीवी के ऑफीसर मुझसे बड़े प्रभावित थे कि आप बहुत अच्छा काम रहे हो। आपके पास कोई मसाला है सीरियल का? मैंने उनको चार घण्टे में अपनी महाभारत का विवरण दिया, कि ये है। बोले, 'हम कल फिर विचार करेंगे।' दूसरे दिन मैं अपने साथ मनमोहन शेट्टी को ले गया। शेट्टी ने कहा, 'मैंने चौकसे की महाभारत पढ़ी है। इसको बनाने में 500 करोड़ रुपये मैं लगाता हूँ। आपको 500 करोड़ में पूरी महाभारत बनाकर देंगे, आप टेलीकास्टिंग के बाद हमको पैसा देना। देखिए, मैंने उनको पटकथा दी। मैंने उनको पूँजी लगाने वाला दिया। एक हफ्ते बाद उन्होंने रिजेक्ट कर दिया कि- 'ये महाभारत लोग स्वीकार नहीं करेंगे। महाभारत की जो छवि लोगों के दिमाग में बैठ गयी है, उस छवि को कैसे बदलेंगे आप? आप तो कह रहे हैं द्रौपदी के चीरहरण के बाद वह दुर्योधन कहलाया, उसके पहले वह सुयोधन था। आप तो कथा कुछ और कह रहे हैं।' मैंने कहा, मैं आपको चार महाभारत के संस्करण देता हूँ, चार टेलीविजन सीरियल पर चलाइये, चारों अलग-अलग हैं। ग्रीक राइटर होमर ने कहा था कि महाभारत एक बहुत बड़ा घने वृक्ष वाला बहुत अँधेरे से भरा हुआ जंगल है। उसमें आप जितने गहरे जायेंगे, उतनी आप नयी-नयी चीजें पायेंगे। ये है नहीं।

मैं पूना गया था एक बार जब सलमान खान की 'बॉडीगार्ड' लिख रहा था। पूना में बहुत बड़े पहाड़ के ऊपर संस्थान है। सारी ग्रेनाइट, मार्बल की बड़ी-बड़ी बिल्डिंगें, 40-40 फीट चौड़ी सीमेण्ट की विशाल सड़कें। मैंने उनकी लाइब्रेरी जाकर देखी, बमुश्किल पाँच सौ किताबें हैं। वो भी घटिया! किसी शिक्षण संस्थान की गुणवत्ता उसकी लाइब्रेरी पर आधारित है।

सन् 2002 में मैं जवाहरलाल यूनिवर्सिटी गया था। मेरे लेक्चर की एक हफ्ते भर की शृंखला थी। जवाहरलाल यूनिवर्सिटी 800 एकड़

नो प्राइवेट कोचिंग, ऑनली क्लास

जब मैं बुरहानपुर के सुभाष हायर सेकेण्डरी स्कूल में पढ़ता था। बहुत छोटी जगह हरदा के एक शिक्षक अब्दुल हकीम साहब पढ़ाने के लिए आये। वे सफेद खादी का कुर्ता-पजामा और ऊपर से कत्थई रंग का कोट पहनते थे और तुर्की टोपी लगाते थे। उनके हाथ में छड़ी होती थी। पहले दिन वे कक्षा में आये। उन्होंने कहा, 'जितने बस्ते लाये हो न, सब नीचे रख दो। हाथ में पेन्सिल नहीं, सामने कागज नहीं, कोई नोट्स नहीं, कुछ नहीं लिखना है। ये मेरी जवाबदारी है कि मैं आपको ऐसा पाठ पढ़ाऊँ कि आप भूलेंगे नहीं।' काहे के लिए ये इतना बस्ता, इतनी किताबें? बेकार हैं। और साहब, उन्होंने इतनी मनोरंजक ढंग से पढ़ाई करवायी है। ये चीज गड़बड़ हो गयी न? अब वैसे शिक्षक नहीं रहे। वनमाली साहब, खेमकर साहब, अब्दुल हकीम साहब जैसे शिक्षक अब नहीं रहे।

एक दिन वे कक्षा में आये, ब्लैकबोर्ड पर उन्होंने एक खूबसूरत लड़की की तस्वीर लगा दी। सबसे पूछा, 'देखो, ऐसी लड़की कहीं देखी है?' सबका जवाब था, नहीं देखी है। 'अरे देखोगे भी कैसे, ये खूबसूरत लड़की कहाँ से देखोगे तुम? अरे भाई, यह तो इटली की रहने वाली है। इटली में समतीषोण्ण जलवायु है, ठण्ड में वर्षा होती है, इसलिए फल बहुत पैदा होते हैं। चूँकि फल बहुत पैदा होते हैं इसलिए वहाँ पर अंगूर की शराब बनाने का व्यवसाय है। उस आदमी ने उस कैलेण्डर से बात शुरू की और इटली का इतिहास, भूगोल आदि सब पढ़ा दिया। आज 60 वर्ष पश्चात् भी मुझे याद है कि समतीषोण्ण जलवायु किसको कहते हैं। उन्होंने कभी भी हमको स्कूल में किताब को हाथ नहीं लगाने दिया। वे सुबह 6.00 बजे वॉक पर जाते थे, 60-70 बच्चे उनके साथ वॉक पर जाते थे और वॉक पर ही वे पंचतंत्र की कहानियाँ सुनाते थे, मनोरंजक बातें करते थे, चीजों के अर्थ समझाते थे। वह आदमी चलता-फिरता एनसाइक्लोपीडिया था। कभी उन्होंने ट्यूशन नहीं ली। नो प्राइवेट कोचिंग, ओनली क्लास।

आज जितनी प्राइवेट यूनिवर्सिटीज़ हैं, ये सब अमेरिका का सिलेबस ही फॉलो कर रही हैं। कुछ भी इण्डियन नहीं है। मैं बहुत हैरान हूँ और बहुत दुखी हूँ कि मेरी 5 हजार साल की उदात्त संस्कृति है, फिर हम उसके वारिस इस कदर कमीने क्यों हैं, इस कदर छोटे और तुच्छ क्यों हैं? मैं इसका भी आपको जवाब दूँगा। मुझे इस बात का घोर दुख है। तो अमेरिकन कैरिकुलम लागू हो गया, हमारी उदात्त संस्कृति हाशिये पर फेंक दी गयी। कोई नहीं पढ़ाता, न कोई पढ़ता, वह केवल चुनाव जीतने के लिए काम में आती है, अब उसका और कोई काम नहीं रह गया। यह एक बहुत बड़ी धारा है कि दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम हमारे यहाँ लागू हो गये हैं।

में बसी हुई यूनिवर्सिटी है। इतिहास की इमारत के बाद 2 किलोमीटर तक जंगल है, फिर आपको भूगोल की इमारत मिलेगी, फिर 4 किलोमीटर जंगल है, फिर साहित्य की इमारत मिलेगी। जब हम सुबह वॉक पर जाते थे वहाँ पर हमने हिरण देखे, खरगोश देखे, मयूर को नाचते हुए देखा। वो ऐसा प्रकृति के बीच में है। मैं वहाँ की लाइब्रेरी में गया। उन दिनों मैं 'ताजमहल' के निर्माण पर काम कर रहा था। मैंने कहा, 'शाहजहाँ से सम्बन्धित कितनी किताबें हैं?' उन्होंने कहा, 'आप दूसरे माले पर कक्ष क्र. 12 में जाइये। 'यहाँ जितनी किताबें आप देख रहे हैं सब शाहजहाँ की हैं। आप 5-7 साल यहाँ रहिये, हम किताबें देते रहेंगे। टेबल-कुर्सी है, चाय-कॉफी है, पढ़िये, नोट्स बनाइये और चले जाइये।' ये होते हैं शिक्षा संस्थान! किधर है? अब आपने ग्रेनाइट की इमारतें खड़ी कर दी हैं।

श्रीमान्, मुम्बई में एक हायर सेकेण्डरी स्कूल है, जिसमें पढ़ाने वाले 20 के 20 शिक्षक फ्रांस से आये हैं। वहाँ फ्रेंच भाषा में अध्यापन किया जाता है। पहले दो साल विद्यार्थी को फ्रेंच भाषा सिखायी जाती है। वहाँ बहुत धनाढ्य परिवारों के लड़के इसलिए जाते हैं कि उस स्कूल से शिक्षित लड़के को आसानी से सोल्वोन यूनिवर्सिटी-पेरिस में एडमिशन मिल जाता है। इस स्कूल की 24.00 लाख रुपये सालाना ट्यूशन फी है, अन्य खर्चे अलग। इससे बड़ा मुकेश अम्बानी का स्कूल है। अब पूँजीपतियों के हाथ में शिक्षा है या नेताओं के हाथ में है। उन्होंने वो सब महँगा कर दिया।

पहले से ये देश दो हिस्सों में बँटा है- बेहद अमीर और बेहद गरीब। अब वह खाई और बड़ी होती जा रही है। लेकिन ये सिलसिला कहाँ से शुरू हुआ? इसके तीन पक्ष हैं। मैं अपनी बात संक्षेप में कहूँगा। साहब, तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं। एक घटना 1969 की है, जब इजराइल के शिक्षाविद डेविड साहब वाशिंगटन गये और उन्होंने अमेरिकन सरकार को कनविन्स कर दिया कि आपकी जितनी यूनिवर्सिटीज हैं, सबमें साहित्य, दर्शन, इतिहास, के बजट 20 प्रतिशत कर लो और इनके बचे हुए पैसे में मार्केटिंग और बिजनेस मैनेजमेन्ट की संस्थाएँ खोलो। अमेरिकन प्रेसीडेंट ने पूछा- ये क्यों? उन्होंने कहा, 'इतिहास, साहित्य अगर आप पढ़ाते रहेंगे तो कुछ बड़े सोचने-समझने वाले विद्यार्थी बाहर निकलेंगे जिनसे पूँजीवाद को भी खतरा होगा और इजराइल को भी खतरा होगा। इसलिए आप शिक्षा का कार्यक्रम बदल दीजिये।' इसीलिए इजराइल का जन्म कई मायनों में बहुत महत्त्वपूर्ण है।

डेविड साहब की शिक्षा पद्धति अमेरिका में जारी हो गयी। अब इससे हमारा क्या रिश्ता है? वह तो अमेरिका है, हमारा रिश्ता क्या है? आजादी के पहले हम सब लोग शिक्षा के लिए ऑक्सफोर्ड जाते थे, केम्ब्रिज जाते थे और स्वतंत्रता संग्राम के महान योद्धा डॉ. अम्बेडकर, महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरू- ये सब इंग्लैण्ड में पढ़े हुए हैं। आजादी मिलने के बाद हमें इंग्लैण्ड से नफरत थी क्योंकि दो सौ साल उन्होंने हम पर बहुत जुल्म किया था। हमने इंग्लैण्ड जाना छोड़ दिया और अमेरिका की तरफ जाने लगे और इसमें हॉलीवुड सिनेमा ने बहुत प्रभाव डाला। उन्होंने अमेरिकन जीवन शैली की जो चमक-दमक दिखायी, उसने बहुत प्रभाव डाला। इसके बाद भी हमारा कोई नुकसान नहीं हो रहा था। डेविड साहब की वजह से हमारा कोई नुकसान नहीं हो रहा था।

आज जितनी प्राइवेट यूनिवर्सिटीज़ हैं, ये सब अमेरिका का सिलेबस ही फोलो कर रही हैं। कुछ भी इण्डियन नहीं है। मैं बहुत हैरान हूँ और बहुत दुखी हूँ कि मेरी 5 हजार साल की उदात्त संस्कृति है, फिर हम उसके वारिस इस कदर कमीने क्यों हैं, इस कदर छोटे और तुच्छ क्यों हैं? मैं इसका भी आपको जवाब दूँगा। मुझे इस बात का घोर दुख है।

तो अमेरिकन कैरिकुलम लागू हो गया, हमारी उदात्त संस्कृति हाशिये पर फेंक दी गयी। कोई नहीं पढ़ाता, न कोई पढ़ता, वह केवल चुनाव जीतने के लिए काम में आती है, अब उसका और कोई काम नहीं रह गया। यह एक बहुत बड़ी धारा है कि दूसरे देशों के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम हमारे यहाँ लागू हो गये हैं। मुम्बई जैसे शहर में एक स्कूल में फ्रेंच टीचर फ्रेंच भाषा सिखा रहे हैं, क्योंकि उनके माता-पिताओं को अपने बच्चों को सोल्वोन यूनिवर्सिटी-पेरिस भेजना है। ये क्या हो रहा है? ये आप क्या पैदा कर रहे हैं?

मैं अपने ग्राण्ड चिल्ड्रन को स्कूल जाते हुए देखता हूँ, जितना उनका वजन है उतना तो बस्ते का वजन है। मैंने उनके माँ-बाप को कहा कि इन बच्चों की कमर झुक जायेगी। बस्ते का वजन इतना क्यों है? क्योंकि इनको आगे ऐसे नागरिक चाहिए जो झुककर चलें,

आँख झुकाकर बात करें। इसीलिए गुलामों की पैदावारी की जा रही है। मैं आपको सत्य बात कह रहा हूँ।

हमने शिक्षक पद की गरिमा खो दी है। पहले शिक्षक माने गुरु। हम 'गुरु पूर्णिमा' तो रखते हैं, पर सूखी गुरु पूर्णिमा रखते हैं। हमारे पूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के जन्मदिवस पर 5 सितम्बर को 'शिक्षक दिवस' भी मनाते हैं। अरे भाई, ऐसे तो हम 'मदर्स डे' भी मनाते हैं। ये 'डे' मनाने से कुछ नहीं होता। शिक्षक की गरिमा आपने छीन ली, आजादी के बाद तो बिल्कुल छीन ली। इस समय आप बिहार जाइये, वहाँ दहेज का 'रेट कार्ड' लगा रहता है। फारेस्ट ऑफीसर 3 करोड़ दहेज, डिप्टी पुलिस ऑफीसर 1.50 करोड़ दहेज, इंजीनियर 1 करोड़ दहेज, डॉक्टर 4 करोड़ दहेज। मैंने पूछा, 'शिक्षक?' जवाब मिला- 'अरे कोई विधवा-इधवा से शादी करा देंगे।' अब बताइये आप?

मैं हर छः महीने में बस में बैठकर किसी न किसी गाँव में चला जाता हूँ दो-चार दिन रहने के लिए। मेरा देश वहीं है। मैं अपनी कार लेकर नहीं जाता। आधा दर्जन कारें हैं मेरे पास। एक बार मैं नदी के किनारे एक गाँव में था, महिलाएँ सुबह लोटा लेकर झाड़ियों के पास दैनिक कार्यक्रम के लिए बैठती थीं। किसी ने कहा- देखो-देखो, गाँव का पटेल आ रहा है। सब औरतें सम्मान में खड़ी हो गयीं। वैरी गुड! थोड़ी देर बाद उधर से कोई और आ रहा था- 'अरे एक निगाह दे दो, मास्टर साहब आ रहे हैं।' सबने कहा, 'बैठे रहो, इसके लिए क्या खड़े होना है।' ये आपने देश के शिक्षक की हालत बना दी है? किधर से आपको गुरु द्रोणाचार्य मिलेंगे? कहाँ से मिलेंगे भाई? आपने शिक्षक पद का पूरी तरह से सम्मान लूट लिया है। वह सबसे गरीब आदमी है। वह आर.के. लक्ष्मण के कार्टून कोने में मिलता है और कहीं नहीं मिलता। अब पूँजी कमाना, पैसे कमाना- मैं इसको बुरा नहीं मानता हूँ। लेकिन उसका मोह करना, उसको एकत्रित करना, उस पर साँप बनकर बैठ जाना, ये गड़बड़ है।

देखिए, आप दुनिया की किसी भी समस्या पर बात करें, आपको घूम-फिरकर अर्थशास्त्र पर आना ही पड़ेगा। उसके सिवाय कोई चारा नहीं है। आपको यह भी बता दूँ कि चाणक्य ने अपनी राजनीति की जो किताब लिखी है उसका नाम राजनीति नहीं है, उसका नाम 'अर्थशास्त्र' है। पिछले 40-50 सालों से नियो क्लासिकल ऑफ इकॉनॉमिक्स है। ये कहते हैं कि हर चीज के आँकड़े की गणना करना है और उसके आधार पर लाभ और हानि का आकलन करना है। आँकड़ों के अतिरिक्त- गणित के अतिरिक्त- कुछ भी सत्य नहीं है। दिस इज नियो क्लासिकल। इसके अपॉजिट एक स्कूल है- हेट्रोडेक्स स्टूडेण्ट एसोशिएशन ऑफ इकॉनॉमिक्स। उसकी थ्यौरी यह है कि नियो क्लासिकल ने गणित और आँकड़ों पर आधारित रहकर कभी भी आने वाली मंदी के दौर की फोरकास्ट नहीं की है, मंदी से निपटने की भी फोरकास्ट नहीं की है। क्योंकि केवल गणित और आँकड़ों से आप कभी भी सम्पूर्ण सत्य तक नहीं पहुँच सकते हैं। हेट्रोडेक्स के अर्थशास्त्र में लाभ-हानि के साथ समग्र मानवता का लाभ, इतिहास और साहित्य बोध का समावेश है।

अब इसके बारे में आपको एक बात और कहना चाहता हूँ। 1989 में वाशिंगटन में बैठकर फैसला किया गया कि भारत जैसे जितने देश हैं, जहाँ बहुत आबादी है, बहुत खनिज पदार्थ हैं, उन सबको फोर्स किया जाये कि वह आर्थिक उदारवाद और भौगोलिकीकरण को अपनायें, ताकि हमारा बाजार वहाँ पहुँच सके और 1991 में हमने आर्थिक उदारवाद को अपना लिया।

पर आप अपने असली धर्म से विमुख हो चुके हैं। वापिस लौटिये। गो बैक टु योर रूट्स, यू विल फाइण्ड दि आन्सर्स।

वनमाली सृजन पीठ द्वारा खंडवा में आयोजित 'वनमाली स्मृति व्याख्यान' में जयप्रकाश चौकसे के उद्बोधन को सुनते हुये प्रबुद्ध श्रोता समाज।

सांस्कृतिक पुरुषार्थ के चढ़ते सोपान

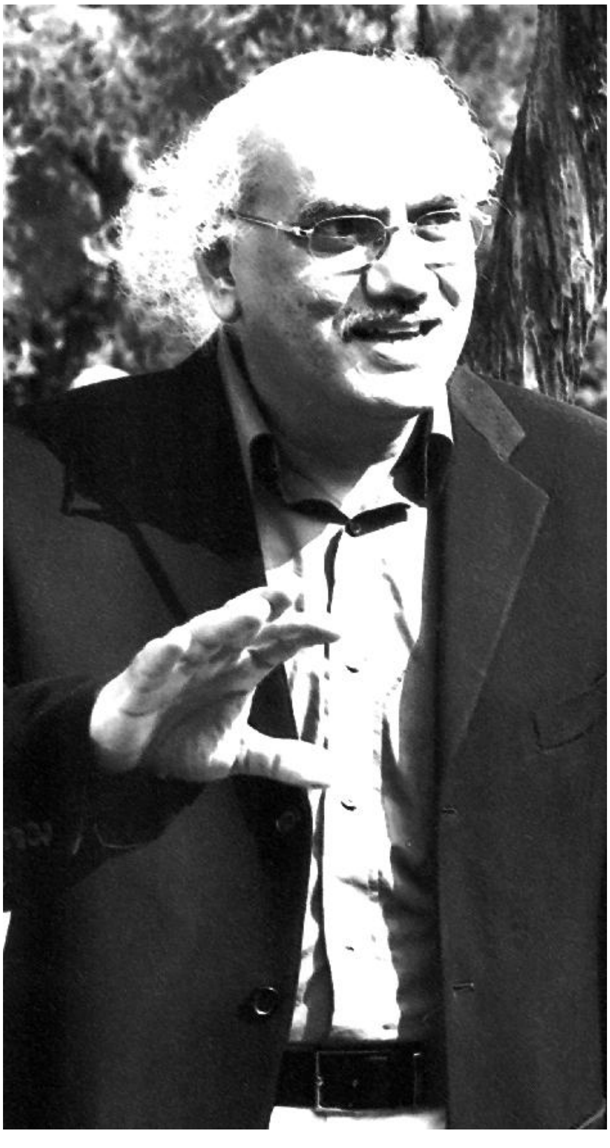

कृति–व्यक्तित्व : संतोष चौबे

साहित्य, संस्कृति, शिक्षा, विज्ञान और सूचना तकनीक के क्षेत्र में असाधारण योगदान तथा उपलब्धियों से आलोकित संतोष चौबे 22 सितंबर को अपने यशस्वी जीवन के साठ बरस पूरे कर रहे हैं। षष्ठिपूर्ति का यह प्रसंग उनके भावी जीवन के प्रति शुभ की कामना और सहज आत्मीयता के बीच उनके सृजनात्मक आयामों और व्यक्तित्व के विविध पहलुओं से प्रत्यक्ष होने का अनूठा अवसर भी है। चौबे के जन्म दिवस के साथ पूरे वर्ष साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों की उत्सवी श्रृंखला जारी रहेगी। ये समारोह भोपाल, बिलासपुर, रायपुर, जबलपुर, सीहोर, खंडवा, उज्जैन और रतलाम में प्रस्तावित है।

संतोष चौबे बुनियादी तौर पर कवि हैं तथा कहानीकार और उपन्यासकार के रूप में उनकी हिन्दी संसार में प्रतिष्ठा है। हिन्दी से इतर साहित्य पढ़ते हुए उन्होंने अनुवाद का भी श्रम साध्य और रचनात्मक उद्यम किया है। रंगमंच की शक्ति और सामाजिक उपयोगिता को उन्होंने शिद्दत से पहचाना है तथा उसका एक अहम हिस्सा भी रहे हैं। संगीत की सभी विधाओं में वे रमते रहे हैं। जलतरंग उनका प्रिय वाद्य रहा है और छात्र जीवन में कई मंचों पर इसका वादन किया। आईसेक्ट स्टूडियो के जरिये सुगम और लोक संगीत की दुर्लभ परंपरा को सहेजने की उन्होंने पहल की है। वे चित्रकला के परिसरों में जाते हैं और लोक, जनजातीय तथा नागर जीवन और संस्कृति के बनते-सँवरते संसार से वाबस्ता होते हैं। किसी नवोदित रचनाकार की उत्साही आमद का स्वागत करते हुए उसके कृति-उत्सव में आत्मीयतापूर्वक शामिल होते हैं।

इन तमाम प्रभावों की ओट में रहकर संतोष चौबे ने साहित्य और जीवन के अन्तर्संबंधों की गहराई को बूझने का जतन किया है। संतोष चौबे विज्ञानकर्मी हैं, लिहाजा उनकी दृष्टि समावेशी है और तर्क को आधार बनाती हुई अपना विश्लेषण प्रस्तुत करती है। संतोषजी की सामाजिक-सांस्कृतिक सक्रियता भी अछूती नहीं रही है। अनेक संस्थाओं के वे शिल्पी रहे हैं और कई आन्दोलनों को उन्होंने रचनात्मक दिशा दी, उनका पोषण भी किया। अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर के अनेक पुरस्कारों और सम्मानों से वे अलंकृत किये जा चुके हैं।

षष्ठिपूर्ति के निमित्त संतोष चौबे के रचनात्मक पुरुषार्थ को रेखांकित करते हुये उनकी सांस्कृतिक दृष्टि और दिशाओं को आदर और शुभकामनाओं के साथ इस अंक में प्रस्तुत किया जा रहा है। -संपादक

साहित्य और कलाओं के अंतर्संबंधों की तलाश

➲ स्कूल के दिनों से ही मैंने लिखना शुरु कर दिया था, हालाँकि स्कूल और कॉलेज के दिनों में मेरी पहचान एक जलतरंग वादक के रूप में ज़्यादा थी जो उस समय के दोस्तों के बीच अब भी चली आती है। लेखन में मेरी शुरुआत व्यंग्य लेखों से हुई जो कॉलेज के समय से ही 'नई दुनिया' के 'अधबीच' कॉलम में छपने लगे थे। फिर युवा आक्रोश के दिनों में मैंने कवितायें लिखीं। उसके बाद कहानियाँ और उपन्यास। नाटकों से मेरा जुड़ाव जनवादी आंदोलन के समय ज़्यादा गहरा हुआ और विज्ञान तथा साक्षरता आंदोलनों ने, जो जनवादी-प्रगतिशील आंदोलन के साथ-साथ खड़े थे, मेरे इस जुड़ाव को और धार दी। इस बीच मैंने अनुवाद भी किये जिन्हें बहुत सराहा गया। अब आलोचना की भी एक नई दृष्टि प्राप्त करने की कोशिश कर रहा हूँ।

➲ हर तरह के सृजन में 'कला' मीडियेट करती है, इसीलिये वह 'कलात्मक' सृजन होता है। सृजन यथार्थ का प्रतिबिंबन नहीं किन्तु यथार्थ को देखने की एक दृष्टि है और यह दृष्टि समाज में व्याप्त 'विचारों' या 'विचारधाराओं' से प्रभावित होती है। जिस तरह के घर-परिवार-समाज-देश में हम अपना बचपन और छात्र जीवन गुज़ारते हैं, जो पढ़ते-लिखते हैं उससे हमारी प्रारंभिक विचार-दृष्टि निर्धारित होती है और धीरे-धीरे, अगर हम सचेत हैं तो - हम खुद को किसी विचारधारा के निकट पाते हैं। इस तरह प्रारंभ में विचारधारा हमें यथार्थ को देखने की एक दृष्टि प्रदान करती है, हमारे 'सृजन' में मीडियेट करती है, और हमारे द्वारा देखे गये सत्य को तीक्ष्णता से उद्घाटित करने में मदद प्रदान करती है। लेकिन जैसे-जैसे हम विचारधारा को बरतते हैं तो पाते हैं कि उस विचारधारा के बाहर भी 'सत्य' है जो उसमें नहीं अँटता, कि कोई भी विचारधारा पूरे समाज को पूरे देश को, पूरे विश्व को या पूरे मनुष्य को समझ या समझा पाने में असमर्थ है, और तब हम उसके बाहर खोजना शुरू करते हैं।

➲ हमने हिन्दी कविता में बच्चों के लिखे गये गीतों का संग्रह और चयन किया, उन्हें संगीतबद्ध किया और बच्चों के माध्यम से ही उनका मंचन किया। उसे बहुत सराहा गया। आप आसानी से पहचान सकते हैं कि आजकल बच्चों को जिस तरह तेजी से बड़ा होने पर मजबूर किया जा रहा है, फिल्मी गीतों और फूहड़ कार्यक्रमों में उन्हें माल की तरह प्रस्तुत किया जा रहा है, हमारा आयोजन उसके खिलाफ़ प्रतिरोध की कार्यवाही था। इसी तरह समकालीन कविता पर केंद्रित 'कविता यात्रा' लगभग 'क्लासिक' की श्रेणी में आ चुकी है और वह नई कविता में, छंद विहीन कविता में, लय की तलाश तो करती ही है, युवाओं के बीच कवियों को ले जाती है, उनकी पहचान बनाती है, और कविता में अंतर्निहित संगीत को प्रस्तुत करती है। विष्णु खरे से लेकर अशोक वाजपेयी तक और काव्य रसिकों से लेकर आम पाठक तथा वह सहज संप्रेषित होते हुये इस 'मिथ' को तोड़ती है कि नई कविता को सुना-गुना-पढ़ा नहीं जा सकता। होलियों पर केंद्रित हमारा कार्यक्रम लोक तथा आधुनिक के बीच संवाद करता है, लोक में छुपे 'क्लासिकल' के एलीमेंट को बाहर लाता है तथा याद दिलाता है कि अगर भाषा को समृद्ध होना है, रहना है तो उसे बोलियों से संवाद करना होगा। इन तीनों ही कार्यक्रमों की एक और ख़ासियत है कि वे टेक्नॉलॉजी का प्रयोग करते हैं और उनका शैक्षिक मूल्य भी है। आलोचना और विमर्श भी हमारे कार्यक्रमों के साथ साथ चलते हैं। हाल ही में वनमाली सृजन पीठ में हुई कथा गोष्ठियों की संपादित पुस्तक 'आख्यान का आंतरिक संकट' ने व्यावहारिक आलोचना के रूप में अच्छी ख्याति प्राप्त की। तो हमारे लिये आयोजन करना एक वैकल्पिक वैचारिकी का व्यवहारिक प्रस्तुतीकरण भी है जो 'मिथ' और 'स्टीरियो टाइप' के पार जाता है। कम से कम

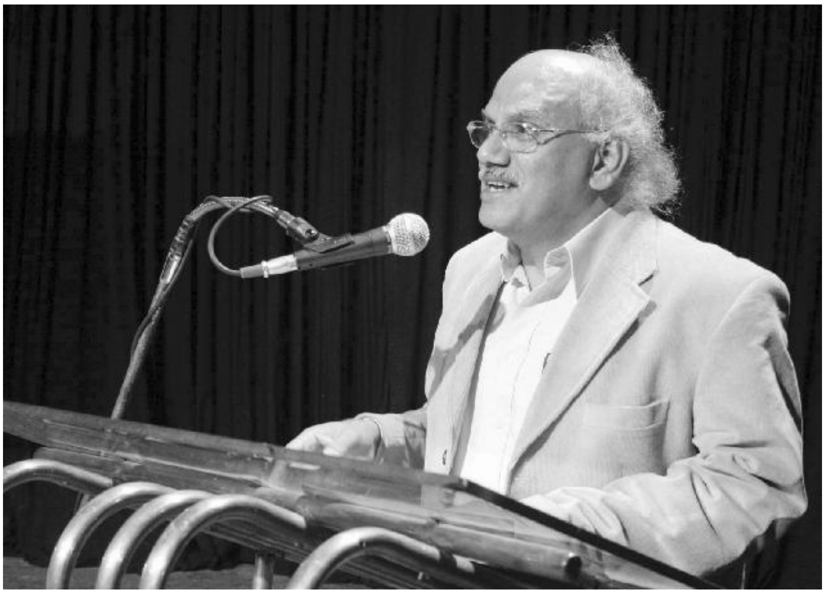

मुझे तो वह किताब लिखने जैसा ज़रूरी काम ही लगता है। वह मुझे भीतर से समृद्ध बनाता है, लोगों से जोड़े रखता है और प्रयोगशील बनाता है।

रचनाकार या कलाकार मूल रूप से तो मनुष्य और मनुष्यता के प्रति ही प्रतिबद्ध रहता है। अतः जो भी दृष्टि या विचार इस मनुष्यता को बचाएगा। वह उसका पक्षधर होगा। वामपंथी विचारधारा के संदर्भ में प्रतिबद्धता शब्द का बड़ा प्रयोग किया जाता है। लेकिन रूस में कम्युनिस्ट शासन के दौरान कोई बहुत अच्छा या समृद्ध लेखन हुआ हो ऐसी बात नहीं है, भले ही वह प्रतिबद्ध रहा हो। तो

प्रतिबद्धता का महत्व तो है पर उसे मूलतः मनुष्य और मनुष्यता के लिए प्रतिबद्ध होना चाहिए।

➲ मुझे लगता है कि साहित्य और कलाओं में प्रगति का रास्ता उनमें अंतर्संबंधों की तलाश से होकर ही जाता है। जैसे भाषा अगर बोलियों से अंतर्क्रिया नहीं करेगी तो उसके मरने या रुक जाने की आशंका है। गद्य अगर कविता से अंतर्क्रिया करता है तो ज्यादा इंटेंस हो सकता है। कविता अगर संगीत से अंतर्क्रिया करती है तो उसके नए अर्थ खुल सकते हैं। मैंने धीरे-धीरे इन बातों को समझा है। 'कविता यात्रा' नई कविता और संगीत के अंतर्क्रिया से उपजी है। विष्णु खरे, केदार नाथ सिंह, अशोक वाजपेयी जैसे श्रोताओं ने इस प्रयोग को सराहा है। मेरी कहानियों का नाट्य मंचन हुआ है। उनमें से एक तो राष्ट्रीय नाट्य महोत्सव में मंचित हुई थी और उसने सुधी दर्शकों तथा मीडिया का ध्यान खींचा। इसी तरह हमने हिंदी कविता के पाठ के साथ-साथ बोलियों के प्रसिद्ध कवियों को भी बुलाया जो श्रोताओं के दिल को छू जाने वाला रहा है। मुझे लगता है कि इस काम को और आगे बढ़ाया जाना चाहिए। पूरे विश्व में आजकल इस तरह की धारा चली है और गद्य, कविता, संगीत तथा चित्रकला के भीतर संबंधों को खोजा जा रहा है, बनाया जा रहा है।

➲ जो सांस्कृतिक संगठन मैंने बनाए या यूं कहा जाए कि मित्रों और सहयोगियों के साथ मिलकर बनाए वे अभी भी सक्रिय हैं। असल में ये बात एक यूनिवर्सल सत्य है कि जब राजनैतिक आंदोलन मजबूत होते हैं तो सांस्कृतिक आंदोलन भी ज्यादा मजबूत और ज्यादा सक्रिय होते हैं। स्वतंत्रता की पूरी लड़ाई में एक बड़ा योगदान सांस्कृतिक और नवजागरण में आंदोलन का भी रहा है। फिर इमर्जेंसी के बाद प्रतिरोध के आंदोलन ने काफी सक्रिय भूमिका निभाई। आज अगर हमें सांस्कृतिक शिथिलता दिखती है तो उसका एक कारण यह है कि इस समय कोई बड़ी राजनैतिक कार्यवाही नहीं हो रही। एक बाजारवादी, उपभोक्तावादी, उत्तर आधुनिक, कुहासा भी है। जिसे छंटने में थोड़ा समय लगेगा।

➲ साहित्य और संस्कृति, तकनीक के विरोध में नहीं खड़े होते। वे उसके अनुपूरक होते हैं। तकनीक आपके जीवन को सरल बना सकती है। मेडिकल साइंस आपकी आयु बढ़ा सकता है, कम्प्यूटर आपका समय बचा सकता है लेकिन इस बढ़े हुए जीवन और बचे समय का आप करेंगे क्या? मेरा ख्याल है ये उत्तर साहित्य और संस्कृति ही हमें दे सकते हैं। नए किस्म के ज्ञानात्मक मानचित्र और संज्ञान हमें तकनीकी और साहित्य दोनों के ही माध्यम से प्राप्त होगी।

➲ पुरस्कार शायद उतने ज़रूरी नहीं हैं जितनी एक लेखक के लेखन को मिलने वाली प्रशंसा या सामाजिक मान्यता। किसी भी लेखक या कलाकार को यह अच्छा लगता है कि उसकी रचना या कला की प्रशंसा की गई। मान्यता भी दो तरह की हो सकती है एक साथी लेखकों, आलोचकों एवं प्रबुद्ध रचनाकारों के बीच से आने वाली ध्वनि और दूसरी आम पाठक के बीच से आने वाली आवाज़। मेरा ख़्याल है कि रचनाकार को दूसरी तरह की मान्यता की ज़्यादा चिंता करनी चाहिए।

➲ भोपाल में बहुत सा नाट्यकर्म हो रहा है। एक बार राजेन्द्र गुप्त बता रहे थे कि भोपाल शौकिया रंगमंच के बड़े केन्द्रों के रूप में उभरा है। मैं नाटक देखता भी रहा हूँ और कहानियों का मंचन करता भी रहा हूं। हबीब तनवीर जी के लगभग सभी नाटक मुझे पसंद हैं। पिछले प्रश्न के संदर्भ में सुरजीत पातर के 'सिबो इन सुपर बाजार' का ज़िक्र करना चाहूँगा जो कई सतहों पर काम करता है। पिछले दिनों भोपाल में उसका मंचन हुआ था। मुझे पसंद आया।

➲ मैं समय का पूरा-पूरा उपयोग करता हूँ इसलिये ट्रेन में भी तथा बाहर रहने पर भी पढ़ लेता हूँ। दूसरे लगातार सोचता रहता हूँ इसलिए रचना का तापक्रम बनता रहता है। जब भी वह एक सीमा तक पहुँचता है, जिसकी आपको अनुभूति हो जाती है, तो लिखने का समय निकल ही आता है। लिखने के लिए समय से ज़्यादा इच्छा ज़रूरी है।

संतोष चौबे द्वारा परिकल्पित दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति 'अंतर्लय' की एक छवि

जीवनवृत्त

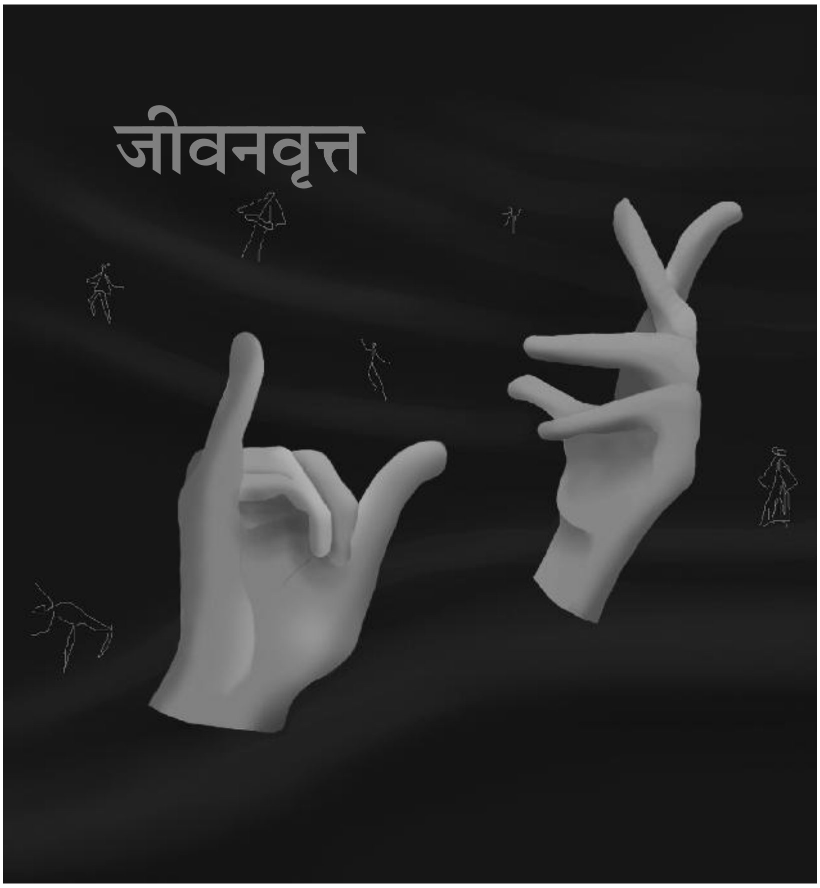

के. रवीन्द्र

बहुत दिनों के बाद
एक बार फिर
किसी ने मांगा था
मेरा जीवन वृत्त

सब जानते हैं
तुम्हारा नाम और काम
बस औपचारिकता है जीवनवृत्त
उसने कहा था.

मेज पर पड़ा कोरा कागज़
और मेरी सुंदर सी कलम
मुझे मुंह चिढ़ाते पूछते थे
'तो शुरू करें सर?'

और तब मैंने लिखा
अपना नाम-
वह मुझे ठीक ठीक याद था
और अपना पता भी-
शुक्र है मैं उसे भूला नहीं था.
पर अनुभव तक आते आते
मैं रुका -

मैं लिख सकता था

उन सैकड़ों परियोजनाओं के बारे में
जिनमें खपता रहा साल-दर-साल
जो लगभग एक समान थीं
और पहली एक दो के बाद
भयानक ऊब पैदा करती थीं.

या उन सम्मेलनों
और कार्यशालाओं के बारे में
जिनमें चमकती रोशनी के बीच
पैदा किया जाता था
बहुत कुछ सीखने-सिखाने का भ्रम
और बहुत सारे लोगों से
हाथ मिलाने के बावजूद
दिल रहता खाली का खाली.

या घर से दफ्तर
और दफ्तर से दिल्ली
और दिल्ली से लंदन तक
चल रही उस अनवरत दौड़ के बारे में
जिसमें जीतने पर
मुझे सफल कहा जा सकता था.

पर क्या
लिख सकता था मैं

प्रेम के बारे में
जिसने मुझे भीतर से बदला.

संगीत के बारे में
जिससे रस अब भी बरसता था.

कविता के बारे में
जिसमें सहेजा मैंने
अपना अकेला पन

संघर्ष के बारे में
जो चलता रहा सालों-साल
मेरे मन में
सच और झूठ के बीच

या उस शाम के बारे में
जब सुजाता बरसी थी
मुझ पर
और फिर रोई थी फूट फूट कर

रात्रि के उस अंतिम प्रहर के बारे में
जब अम्मा के सिरहाने बैठ
मैं देखता रहा था उन्हें
जाते असहाय
जब काल का वह छोटा सा खंड
लगा था मुझे कई युगों के समान
और दुनिया पूरी तरह निस्सार.

उस खुशी के बारे में
जब बेटे के साथ
लौटता मैं अपने बचपन में
या बेटी के साथ
झांकता उसकी
खेल और खुशबू से भरी दुनिया में.

अचानक मुझे लगा
जीवन वृत्त तो नहीं ही था
और सीधी रेखा
तो बिल्कुल भी नहीं.

कागज़ वैसा ही रखा था
कोरा का कोरा
बस उस पर लिखा था
मेरा नाम और पता
सच कहता हूँ दोस्त
कुल इतना ही है मेरा जीवन वृत्त
और इसके आगे
मुझे कुछ नहीं पता.

- संतोष चौबे

एक दुपहरी यादों की

शताब्दी शब्द-पुरुष भीष्म साहनी को याद करते हुए लेखक-पत्रकार यशवंत व्यास

वह खूब तीखी दोपहर थी। गुलमोहर के लाल-लाल फूल अपनी छातियों पर कहीं-कहीं पीली छींट संभाले, खूबसूरती के साथ, अंगारों की तरह डालियों पर छाये हुए थे। गाड़ी रेसीडेंसी कोठी के पिछले रास्ते भीतर की तरफ, इन्हीं के बीच से गुजरती हुई जा रही थी। इंदौर के आम लोग कभी अंग्रेजों की इस कोठी की तरफ रुख नहीं करते थे और अब मंत्रियों से लगाकर अफसर तक, सब गुजर जाते हैं। ढेर सारे जर्द सूखे नीलगिरी के पत्ते जमीन पर सरसराये और लू का गर्म झपट्टा शीशे के पार चेहरों तक चला आया। भीष्म सिर्फ मुस्कुराये, कुछ अधखुले शीशों की तरफ, कुछ हमारी तरफ, और जैसे लू का मिजाज बार-बार उनसे पराजित होकर लौट जाता था।

अभी ए.बी. रोड पर उन्होंने बलराजजी के जिक्र के साथ चालीस किलोमीटर वाली और दस किलोमीटर वाली ढाबों की चाय का किस्सा सुनाया था। फिर, जनता कांग्रेस और लोकदल चाय का किस्सा भी आया। हर एक किस्सा सुनाते या सुनते हुए वे बिल्कुल बच्चों की तरह मुस्कुरा पड़ते थे। छोटे-छोटे दांतों की अक्षत-सी पंक्ति बारीक होंठों के पीछे से निकलकर जरा-सी झांकती और एक निर्मल हँसी सारे माहौल में बिखर जाती। उन्होंने अपने हाथ का थैला फिर से टटोला...साड़ियाँ थीं, जो करीब घंटे-भर पहले उन्होंने शीलाजी के लिए खरीदी थीं। जबकि वे थैले की कड़ियां पकड़ रहे थे, गाड़ी एक गुलमोहर के साये तले खड़ी हो गयी। हम सब गुर्राती हुई सन्नाटेदार धूप में जमीन पर उतर आये। कुछ कदम नापते हुए। भीष्म चुप हैं, मगर फिर भी लगता है, जैसे बोल रहे हैं। जैसे धूप के टुकड़ों को वे अभी उठाएंगे, और उनकी जलन सोखकर ठंडा कर देंगे और बांट देंगे बहुत कोमल और सुहानी धूप।

रेसीडेंसी के कमरा नंबर एक में हम दाखिल हुए। हमसे पहले वहाँ मौजूद हैं, इप्टा के नौजवान, भीष्म से मुलाकात के लिए ललकते हुए वे 'बतियाने' बैठ जाते हैं। नाटकों, कलाकारों, मुश्किलों, चुनौतियों सब पर एक 'भव्य कही जाने वाली मुद्रा' से रहित एक बेहद अपनापे की बात, 'तुम काम करो। एक शो करो- पांच करो। टैलेंट तो तुम्हारे पास खिंचा चला आयेगा और हर ग्रुप, एक दूसरे से बराबर ताल्लुकात रखें। नयी बातें सामने आयेंगी, पीछे नहीं हटना।' दोपहर उत्तरोत्तर तीखी होती जाती है। नौजवान अपने आप में भीष्म के शब्द पूरे जतन के साथ छिपाये हुए, अभिभूत-से लौट रहे हैं। हम, बगैर एक पल की मोहलत दिये उनसे पुराने दिनों में लौट जाने की ख्वाहिश रख देते हैं। हमारा अपनी ठोड़ी पर हाथ है और उनका हाथ सिगरेट जलाने में व्यस्त। धुआं अंदर जाता है और लौट आता है... रावलपिंडी, लाहौर, अमृतसर, बंबई, भाई, माँ, पिता, व्यापार, राजकुमार, मोहन राकेश, तमस...

जैसे 'झरोखे' का भीष्म सोच रहा है- विस्मृति की अंधेरी खोह में पड़े अतीत के चित्रों के अंश, कागज के पुर्जों की तरह कभी-कभी उड़ने लगते हैं। दो-एक पुर्जे जुड़ जाएं तो तस्वीर-सी उभरती जान पड़ती है। खोह का अंधेरा छनता-सा जा रहा है। पर ध्यान से देखो तो चित्र सहसा अपने रंग खोने लगता है, और पुर्जे फिर से अलग अलग होकर बिखरने लगते हैं, विस्मृति की खोह में फिर से डूबने लगते हैं। क्या मेरी कल्पना ही इन अंशों को जोड़ने का, इन्हें रूप देने का प्रयास कर रही है, क्या जीवन की गतिविधि को सूत्रबद्ध करने वाले कोई तंतु हुआ भी करते हैं या नियमितता की भूखी हमारी कल्पना ही उन्हें कोई सुसंगत रूप देने की चेष्टा करती रहती है?

जिंदगी पर के कुछेक झरोखे, लगता है, वे अपने हाथों से खोल रहे हैं। साये और आवाजें, भटकते रंग, काला और सफेद और लाल- इन्हीं का झुरमुट-सा उभरने लगता है-

'रावलपिंडी में दो किस्से हुआ करते थे। एक होता था छावनी का, दूसरा होता था शहर का। छावनी हमारे लिए पश्चिमी रंग-ढंग का बेहद खींच लेने वाला हिस्सा हुआ करती थी। मैंने एक फिल्म देखी थी। तो मेरे आगे की कुर्सी पर एक नवविवाहित जोड़ा बैठा था। जब-जब कोई रोमांटिक सीन आता, पत्नी झट से घूंघट कर लेती- और शहर तो शहर जैसा था। मेरे मुसलमान दोस्त सलवार-कमीज पहनते, तो मेरी भी बहुत इच्छा हुआ करती थी कि मैं भी सलवार-कमीज पहन लूं। मगर मुश्किल थी।'

उससे मुश्किल था, सुबह-सुबह पांच बजे जागना और टहलने जाना। पिताजी पानी के छींटे मारकर हमें उठाया करते। नतीजा यह कि सबसे आगे पिताजी, उनके पीछे भाई (बलराज) और सबसे पीछे मैं. उसके बाद पढ़ाई के लिए गुरुकुल जाने की तैयारी। तब, वो गुरुकुल चलाते थे मुक्तिराम और स्वामी वेदानंद। मुक्तिराम वानप्रस्थी थे। बड़े अनुशासन-प्रिय। भाई और मैं सुबह निकलते तो सांझ ढले घर लौटते। आखिर पिताजी ने तय किया कि एक टट्टू खरीद लिया जाए। टट्टू को यह गवारा नहीं था कि हम दोनों भाई साथ-साथ उस पर बैठें। लिहाजा एक दफे भाई उस पर बैठते

और मैं लगाम पकड़कर चलता, दूसरी दफे मैं बैठता और भाई के हाथ में लगाम होती। बारी-बारी हर रविवार हम उसे बाग में भी ले जाया करते। उससे भी अजीब थी उसकी एक और आदत। जब वह गुरुकुल की तरफ जा रहा होता था, तब उसके कदम उठते ही न थे। लगाम खींच-खींचकर हम वहाँ तक उसे ठेलते थे, मगर लौटते में वह सरपट भागा चला आता।

यह रोज का आना-जाना भाई को पसंद नहीं आया। पसंद तो मुझे भी नहीं आता था, मगर मैं डरता था और कह नहीं सकता था। जबकि भाई ने एक दिन पिताजी के सामने अपने स्वभाव के मुताबिक बगावत कर दी, 'हम गुरुकुल नहीं जाएंगे। हमें स्कूल में डालिए। सुबह से शाम हो जाती है, हम तो खेल भी नहीं पाते।'

आखिर गुरुकुल से छूटे और स्कूल का रुख किया। भाई मुझसे दो साल बड़े थे। जाहिर है, जब उन्हें चौथी में बिठा दिया गया तो मैं समझ गया कि दूसरी में मुझे बैठ जाना चाहिए। मैं दूसरे दर्जे में पहुंचा। गुरुजी ने कुछेक सवाल किये, उर्दू लिखवायी, मैंने सब कर दिया। मगर तभी उनकी नजर मेरे पाजामे की तरफ गयी। उनका फैसला आया- 'इसने पाजामा उल्टा पहन रखा है। जब पाजामा पहनना भी इसे नहीं आता, तो यह दूसरी में कैसे बैठ सकता है?' और मुझे पहली में भेज दिया गया।

यह बात हमेशा मुझे 'डिमोरॅलाइज' करती रही। उम्र का फर्क था दो साल और दर्जे का फर्क हो गया तीन साल, सिर्फ पाजामे की वजह से। आगे भी ऐसा हुआ कि मैंने सन् 37 में एम.ए. किया और वे सन् 34 में ही उसे पार चुके थे।

पिताजी कुछ 'इंपोर्ट' का बिजनेस करते थे। हालांकि उन्होंने शुरुआत मामूली तरीके से की थी, मगर बाद में आसूदा हो गये थे। तो, घर में जो सबसे दिलकश चीज हमारे लिए थी, वो थी पिताजी का कमरा। उस कमरे में किस्म-किस्म की चीजें, कपड़े खुशबू, खिलौने और न जाने क्या-क्या भरा हुआ था। ये वो नमूने थे, जो कंपनियाँ ऑर्डर बुक करने के लिए उन्हें पहुंचाती थीं।

नाटक का हमें बेहद शौक था। अंदर के कमरे को हम स्टेज मान लेते और उसका दरवाजा ऐसे खोलते, जैसे पर्दा खुल रहा हो। दर्शकों के नाम पर तो माँ, बुआ, वगैरह परिवार-भर के लोग थे ही। एक बार का अजीब किस्सा सुन लीजिए।

स्कूल में नाटक हो रहा था श्रवण कुमार का। मैं बना था श्रवण कुमार। अंधे माँ-बाप बने दो साथी, नन्हें बच्चे दर्शकों में बैठे लड़कों के जुबानी तीरों का शिकार हो रहे थे... अरे उसकी आंख मिचमिचा रही है, वो तो देख रहा है! अब सीन आया कि श्रवण कुमार तालाब से पानी भर रहा है। मैंने तालाब के नाम पर पानी से भरे टब में बर्तन डाला और दशरथ ने तीर चलााया। मगर, तीर था कि बजाय मेरे सीने के, हवा में उड़ता हुआ किसी कोने में जा गिरा। लेकिन मैं तो मुस्तैद था। सीन के मुताबिक घायल होकर गिर पड़ा और गाना शुरू किया- जो पांच मिनट तक चलता रहा-

मैंने तेरा क्या बिगाड़ा, जो तूने तीर मारा...

इसी बचपन में एक रस्म होती है यज्ञोपवीत की। बाकी तो हमें सब ठीक लगता था। लेकिन मुंडा। आखिर में बटुक भिक्षापात्र लेकर सबसे पैसा-दक्षिणा लेता है, ताकि शिक्षा के लिए बाहर जा सके। रस्म पूरी हुई, तो जनेऊ दिलाने वाले पंडित ने सारे पैसे अपने पास रखे लिये। माँ बहुत चिढ़ी कि मेरे बेटों का सिर भी मुंडा और पैसे जो थे, वो भी पंडित ने रख लिये।

स्कूल में नाटक हो रहा था श्रवण कुमार का। मैं बना था श्रवण कुमार। अंधे माँ-बाप बने दो साथी, नन्हें बच्चे दर्शकों में बैठे लड़कों के जुबानी तीरों का शिकार हो रहे थे... अरे उसकी आंख मिचमिचा रही है, वो तो देख रहा है! अब सीन आया कि श्रवण कुमार तालाब से पानी भर रहा है। मैंने तालाब के नाम पर पानी से भरे टब में बर्तन डाला और दशरथ ने तीर चलााया। मगर, तीर था कि बजाय मेरे सीने के, हवा में उड़ता हुआ किसी कोने में जा गिरा। लेकिन मैं तो मुस्तैद था। सीन के मुताबिक घायल होकर गिर पड़ा और गाना शुरू किया- जो पांच मिनट तक चलता रहा- मैंने तेरा क्या बिगाड़ा, जो तूने तीर मारा...

इंटर कॉलेज से ज्यादा रावलपिंडी में नहीं था, इसलिए आगे की पढ़ाई के लिए लाहौर जाना पड़ा। भाई की पढ़ाई पूरी हुई, तो पिताजी ने कहा 'चलो, बपार में हाथ बंटाओ।' भाई का बिजनेस में कतई मन नहीं था। और मेरा भी कहा था? मगर चूंकि घर में बड़े थे, लिहाजा बेमन से जिम्मेदारी में लगे। व्यापार उनके बस का कतई नहीं था। और यहाँ भी उन्होंने कुछ 'मौलिक आविष्कार' किये।

मसलन, पिताजी को जो एक एजेंसी मिली थी, वो 'हरक लट्टे' की थी। उन दिनों कई मार्के हुआ करते थे। 'चाभीवाला लट्टा' वगैरे। मगर हरक लट्टे के ऑर्डर बुक ही नहीं हो पाते थे। भाई एक एक तरकीब निकाली। अपने खास दोस्त से कहा कि तुम दुकान-दुकान जाओ और पूछो 'हरक लट्टा' है क्या? जब उन्हें लगेगा कि इसकी मांग है, तो मैं बाद में जाकर ऑर्डर बुक करवा लूंगा। मगर, जब दोस्त तीसरी दुकान पर पहुंचा तो दुकानदार ने पहचान लिया। वो भी भाई का दोस्त था। इस तरह तरकीब फेल हो गयी।

यानी, कुल जमा ये कि वे बिजनेस नहीं कर सके। अंततः पिताजी ने पर्याप्त विरोध-मिन्नतों के बावजूद भाभी समेत घर से चले गये। बाद में उन्होंने लाहौर से एक पत्रिका निकाली जो बंद हो गयी। उनका स्वास्थ्य भी खराब हो गया। पिताजी ने मुझसे कहा कि बाई को मनाकर ले आओ। मैं गया भी, मगर मना नहीं पाया, क्योंकि मैं खुद घर लौटने और बिजनेस करने के लिए मन नहीं पाता था।

भाई शांतिनिकेतन होते हुए, इंग्लैंड, और बाद में बंबई चले गये थे।

लाहौर से पढ़ाई खत्म हुई, तो मुझे उसी में पड़ना पड़ा, जिसमें मैं नहीं पड़ना चाहता था। मुझे तो कलम, कागज, नाटक, वगैरह चाहिए थे, दुकान-दुकान घूमकर ऑर्डर बुक करने का माद्दा मेरा नहीं था। पर जैसा कि मैंने कहा- मैं डरता था और पिताजी से 'ना' नहीं कह पाया। एक बार यूनिवर्सिटी से प्रिंसिपल साहब का खत आया कि वाइस चांसलर से आकर मिलो, रेडियोवाले कुछ लोगों की भर्ती करना चाहते हैं। मैं गया भी वहाँ, मुझे पता लगा कि मेरा सिलेक्शन तय है। लेकिन, उस कमरे में बैठे-बैठे घरवालों की तस्वीरें सामने घूमने लगीं। पिताजी...माँ...शायद इस नौकरी से वे कितने निराश होंगे... और मैं बगैर इंटरव्यू दिये ही वापस लौट आया।

रावलपिंडी के 'बिजनेस' को ढोते-ढोते मैंने सोचा कि नाटक जारी रखना चाहिए। लिहाजा ऑनरेरी तौर पर एक कॉलेज में पढ़ाने भी जाया करता और लड़के-लड़कियों को तैयार भी किया करता। लालच यह था कि टीम तैयार होगी और कॉलेज का हॉल भी मिल जाएगा। मगर जब नाटक तैयार हुआ तो कॉलेजवालों ने हॉल देने से मना कर दिया। कारण कि तुम्हारे ड्रामे में लड़कियों का रोल सचमुच लड़कियाँ करेंगी। (उस जमाने में लड़के ही करते थे) और आर्यसमाजी कॉलेज को यह मंजूर नहीं था। बहरहाल, नाटक करना था। हमने दूसरा हॉल बुक किया और कॉलेज वालों को चैन आया। यह और बात है कि दूसरे हॉल के तय होने के बाद उन्होंने हमारे लिए मदद के द्वार खोल दिये।

विभाजन की जो त्रासदी रावलपिंडी ने भोगी तो वह पाकिस्तान में चला गया और हमें सब कुछ छोड़कर नयी जगह तलाशनी पड़ी। धुआं, लकीरें, खून, रावलपिंडी, बंबई, अमृतसर और दिल्ली। बंबई में भाई थे। पिताजी ने कहा, कपड़े वालों से दुबारा ताल्लुक बनाओ, बिजनेस शुरू करो। तब लाइसेंस की जरूरत होती थी। हम 'बेलार्ड एस्टेट' में सरकारी दफ्तर गये भी, मगर जब पहुंचे तो साहब के चपरासी ने मिलवाने से इंकार कर दिया। मैंने मान-मनौव्वल की, मगर भाई गुस्से से सीधे दफ्तर में घुस गये और अफसर से बोले, 'क्या आपके चपरासी को यह हक हासिल है कि वह किसी मिलने वाले को मिलने न दे? मैं लंदन में रहा, चर्चिल तक ने चपरासी को ऐसे हक नहीं दे रखे।' अफसर ने दरख्वास्त रख ली और बाद में जवाब भेजने को कहा। वो जवाब आज तक नहीं आया। मैं बेहद खुश था, इस तरह बिजनेस से मेरा पिंड छूट गया।

लिखने की बात थी, बंबई के अखबारों में मैंने कुछ लेख लिखने शुरू कर दिये। घर में साहित्यिक माहौल तो शुरू से था। बुआ की लड़की सत्यवती मलिक अच्छी कविताएं लिखती थीं, उनकी एक किताब भी आयी। उनकी दूसरी बहन का ब्याह चंद्रगुप्त विद्यालंकार से हुआ था। बहरहाल, शुरू की एक कहानी के पीछे की कहानी लें। हम कश्मीर तरफ से लौट रहे थे। वहाँ नाकों पर चुंगी लगती थी। एक आदमी ने अपनी मुर्गी को चुंगी से बचाने के लिए दबाकर कंबल में छुपाया। नाका गुजर गया तो उसने कंबल हटाया, मगर पाया कि मुर्गी का दम घुट गया था। यह घटना सबने देखी। मैं घर आया, एक कहानी लिखी और भाई को बतायी तो पता चला कि भाई ने भी उस घटना पर कहानी लिखी थी, मगर भाई का दिल बड़ा था। उन्होंने मुझे अपनी कहानी अखबार में भेजने को कहा, कहानी छप भी गयी।

मेरा 'बंजारापन' आखिरकार दिल्ली में खत्म हुआ। एक कॉलेज की नौकरी की, रूस में अनुवादक की तरह छः साल के लिए चला गया। यह और बात है कि मेरा रूसी ज्ञान कामचलाऊ ही बना रहा। दिल्ली की 'कल्चरल फोरम' में सब साहित्यकार मिला करते थे। इसी का नतीजा था कि मैंने खूब कहानियां लिखीं और संग्रह बाजार में आने लगे। 'तमस' का दुख मेरा भोगा हुआ दुख है और 'झरोखे' के अंदर शायद मेरा बचपन मिल जाएगा...

बातें जारी, जारी और जारी रह सकती थीं, दरअसल, वे जारी भी रहीं। हम लोग खड़े हो गये। भीष्म साहनी को मिल-मजदूरों के बीच जाना है। वे बात करते हुए, सुनाते हुए, दरवाजा पार करते हुए हमारे साथ कमरे से बाहर थे। धूप का तीखापन उतर गया था, जैसे भीष्म ने इतना सारा वक्त अपनी यादें बयान करते हुए नहीं, वरन् आसमान के जर्रों में आर-पार जलजलाती हुई धूप से लड़ते हुए और उसे आहिस्ता-आहिस्ता मोहक ठंडेपन की ओर मोड़ते हुए गुजारा था। 16 अगस्त, 1964 को मोहन राकेश ने भीष्म साहनी को पास पाकर नोट किया था- 'भीष्म के चेहरे और बातचीत में आज भी वह सहजता है जो 22-24 की उम्र के बाद नहीं रहती। विश्वास नहीं होता कि यह आदमी अगले साल पचास साल का हो जाएगा... भीष्म ने दोस्तों पर दबे-दबे रायजनी भी की, पर एहतियात बरतते हुए कि उसका कहीं गलत इस्तेमाल न हो। भलमनसाहत का तकाजा कायम रखते हुए।'

अगर राकेश होते तो, 14 मई 1989 को 74 साल के भीष्म साहनी को देखकर भी शायद वही सब नोट कर सकते थे।

भीष्म फिर मुस्कुराए कुछ हमारी तरफ, कुछ अधखुले शीशों की तरफ और गाड़ी उसी रास्ते से रेसीडेंसी कोठी से बाहर की तरफ बढ़ चली। मगर इस बार गुलमोहर ज्यादा खूबसूरत थे, एकदम ठण्डे और दिलकश भी...।

दृश्य-व्याख्याएँ और सिनेमा

सुनील मिश्र

वे अपनी कृतज्ञता में श्रेय देते हैं जबकि श्रेय जरा भी आवश्यक नहीं है। वे विनम्रता में कहते हैं कि इस दीवानगी में धकेल दिया गया हूँ। यह भी उतना सच नहीं है क्योंकि वे यदि लगन लिए न होते तो वह सब न हो पाता जिसके साथ वे जीवन के उत्तरार्ध में अपनी एक पहचान के साथ प्रकट हो गये हैं। उनका अपना जुझारूपन या लगन न होती तो वे पैंसठ की उम्र में लेपटॉप लिए फिल्मों के दृश्यों को कट न कर रहे होते, उसका गणित याद न रख रहे होते, उसके पैमाने पर सजग न होते। बहुत सी बातें हैं, ऐसी जो अनिल चौबे के इस दिलचस्प संसार में खुद उपस्थित होकर ऐसे बहुत सारे तर्क उपस्थित करती है। नतीजा यही निकलता है कि सब गढ़ा हुआ उनका खुद ही का है, वही हमें सिखाता-संज्ञान भी देता है और थोड़ा-बहुत नजरिया भी यदि आपके पास धैर्य और धीरज हो।

उनके साथ परिचय और अपनेपन की शुरूआत पच्चीस साल पहले हुई थी जब मैं मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम की पत्रिका पटकथा का सहायक सम्पादक था और वे प्राध्यापक के रूप में रीवा पदस्थ थे। निगम के दफ्तर वे मुझसे पहले भी आया करते थे और मेरे वहाँ नौकरी करने के बाद तो खैर आते ही रहे लेकिन बाद में भोपाल आने पर उनका मुझसे मिलना सारे सरोकारों को एक अलग आत्मीयता के साथ चलाये रखना भी था। मेरे वहाँ नौकरी से पहले श्रीराम तिवारी पटकथा के सम्पादक थे और सारे सरदर्द और उत्तरदायी विषयों से जूझने वाले। सहायक सम्पादक होकर कुछ काम मुझे भी वे दिया करते थे। इस नाते पटकथा और मोनोग्राफ वगैरह थोड़ा गति से निकलने लगे थे। अनिल चौबे वहाँ पटकथा के अंकों को, मोनोग्राफ्स को खरीदने आया करते थे। एक सरीखे मिलनसार, अच्छी और दिलचस्प बातें करने वाले और थोड़ी देर बैठकर अपनी सुरुचि और जिज्ञासा का कुछ बहुत देकर जाने वाले। उनका इन्तजार रहा करता था। बाद में वे भोपाल आ गये। आज तक ऐसी कोई वजह नहीं हुई कि उनसे रिश्ते ठहरे-थमे हों। एकदम साफगो इन्सान, अपनी स्वतंत्रता और आत्मविश्वास में केवल अपनी आत्मा को मान देने वाले, बहरहाल।

खंडवा में किशोर कुमार पर केंद्रित दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति का विवरण देते अनिल चौबे

अनिल चौबे को सिनेमा का शौक जिस तरह का रहा, उसी के कारण ही वे सदैव अच्छी और नयी किताबों की खोज में रहते थे। खरीदकर पढ़ते थे और अपना संग्रह सम्हालकर रखते थे। उन्होंने ही बताया था कि उनके संग्रह में फिल्में भी हैं जिनकी संख्या हर उस बार बढ़ी जब वे देश के विभिन्न शहरों में डीवीडीज़ की दुकानों में गये। पाँच हजार से ज्यादा फिल्में उनके पास न जाने कभी की हो गयी थीं। उनसे भोपाल में मिलना मुश्किल से होता था पर जब कभी होता तबीयत से होता, होता वही, सिनेमा की बातें, अपने प्रश्न और जिज्ञासाएँ, उनके समाधान और व्याख्याएँ। हम निर्देशकों, पटकथा लेखकों को लेकर बात करते थे, नायकों तथा संगीत निर्देशकों और सिने छायाकारों को लेकर बात करते थे। अक्सर उनके घर जाना और महत्व का होता था जब वे अनेक फिल्मों के कुछ चयनित दृश्यों को दिखाकर उनकी व्यापक व्याख्या किया करते थे।

कुछ वर्ष पहले की बात है, सिनेमा के सौ सालों की बेला को लेकर पूरा देश, देश से तात्पर्य सिनेमा और सिनेमा से चमत्कृत या अचम्भित से लोग यकायक जाग्रत हो चले थे। इस बीच कुछ सार्थक काम किए जाने का विचार मन में प्रबल हो रहा था। तब हमारे संस्कृति सचिव पंकज राग थे जिन्होंने यह प्रेरणा दी कि भारत भवन में फिल्म रसास्वाद कार्यशाला का एक सात दिन का आयोजन किया जाना चाहिए। इस प्रकल्प को उन्होंने स्वतंत्रत: करने दिया। आयोजन में बासु चटर्जी से लेकर मीता वशिष्ठ, विष्णु खरे, श्रीराम ताम्रकर, जयप्रकाश चौकसे, दीपा गहलोत आदि का आना-जाना हुआ। आखिरी दिन हमने सोचा कि सिनेमा के सौ सालों के परिप्रेक्ष्य में कुछ चयनित महत्वपूर्ण फिल्मों के दृश्यों और गीतों के साथ एक व्याख्यात्मक प्रस्तुति के लिए अनिल चौबे से अनुरोध किया जाये, बल्कि सोचा क्या, जिद

करके वचन ही ले लिया। अनिल चौबे की हाँ हो गयी लेकिन इस काम ने उनको लगातार दस-बारह दिन तनाव में रखा, वे इसकी तैयारी भी कर रहे थे लेकिन उसके साथ खासे चिन्तित भी दिखायी देते, उस बीच जब मिलते। हम उनके प्रति आश्वस्त थे, उनकी चिन्ता की फिक्र किए बगैर। बात खास यही कि समापन दिवस जब वे अपनी प्रस्तुति के साथ भारत भवन के अन्तरंग में थे, तो दो सौ लोगों की उपस्थिति में हम सबने सिनेमा के संसार से चुनिन्दा मोतियों के प्रतिबिम्ब को परदे पर देखा, अनिल चौबे से दृश्य विधान, मर्म और एक-एक दृश्य के पीछे की जाने वाली कुल मेहनत में से काफी कुछ को जाना। प्रस्तुति के अन्त तक आते-आते जब उन्होंने भाभी की चूड़ियाँ फिल्म से ज्योति कलश छलके गाने को लिया और उसके भावार्थ की सदृश्य व्याख्या की तो बहुतेरे दर्शक अपने आँसू पोंछते दिखायी दिए। हम सबका मनोरथ और अनिल चौबे की मेहनत सफल हुई थी, समापन पर उजाला होते ही बजना शुरू हुईं तालियाँ हौसले के लिए भरपूर थीं।

बाद में अनिल चौबे अपने इस काम को जिसके लिए वे अक्सर कहा करते थे कि तुम्हारी जिद पर अचानक जिस तरह से सब हो गया, अब उसको लगातार और ठीक कर रहा हूँ, बताया करते थे कि अमुक दृश्य को ले लिया है, अमुक को हटा दिया है, अब यह जोड़ दिया है और उसे कम कर दिया है, थोड़ा बढ़ गया है पर एक मध्यान्तर भी साथ हो तो बेहतर होगा, आदि। इसी बीच हमारे साथ विनय उपाध्याय जुड़े, श्रीराम ताम्रकर जुड़े। अनिल चौबे ने विनय उपाध्याय को हमारे जैसा अपनापन दिया वहीं श्रीराम ताम्रकर को वही आदर जो हम दिया करते थे। आत्मीयजनों का एक समाज इस तरह बढ़ा जिसमें से श्रीराम ताम्रकर का पिछले दिनों हमारे बीच से विदा होना हम सभी को निरन्तर ही विचलित रखे हुए है। विषयों को लेकर अनिल चौबे से लगातार बात हुआ करती थी। उन्हें विशेष रूप से के. आसिफ, मुगले आजम, गुरुदत्त, विजय आनंद, हिचकॉक आदि पर बात करना बहुत सुहाता रहा है। कई बार हमने उनसे अपने मन के विषय भी छेड़े जिसके बारे में उन्होंने तत्परतापूर्वक जो भी बताया वह इस बात को जाहिर करता था कि सचमुच भारत सहित विश्व का सिनेमा उन्होंने संजीदगी के साथ देख रखा है, वक्त-वक्त पर उसे दोहराया भी है या दृश्यों को अपने ज्ञान के लिए अनेक बार देखा और समझा है।

हम सबके साथ जो उनके एक और मित्र उनको तकनीकी रूप से सहयोग करते थे, वे अनुराग सीठा का भी नाम लेना अनिल चौबे नहीं भूलते जिन्होंने उनके लिए दृश्यों को आरम्भ में सम्पादित कर उनको सिलसिलेवार करने का बड़ा काम किया था। कुछ समय से अब यह काम स्वयं अनिल चौबे सीख गये हैं और अपने लेपटॉप पर वो सारी व्यवस्था उन्होंने जुटा रखी है जो उनको भोपाल छोड़ने के बाद, रायपुर, मुम्बई रहते हुए परिपक्व भी कर रही है और आत्मनिर्भर भी बना रही है।

एक सिने अध्येता के रूप में अनिल चौबे ने अपने इस शौक, अपनी प्रस्तुति को विषयों के नवाचार और विस्तार से व्यापक किया हैं। किशोर कुमार, विजय आनंद, सिनेमा संगीत में उस्तादों का योगदान, वी.के. मूर्ति, नौशाद, विशेष रूप से मुगले आजम, पाकीजा, सदी की दस श्रेष्ठ फिल्में आदि विषयों के साथ दर्शकों को उनका बांधना प्रभावित करने वाला अनुभव रहा है।

एक सिने अध्येता के रूप में अनिल चौबे अपने इस शौक, अपने प्रस्तुति सृजन को विषयों के नवाचार और विस्तार के साथ और व्यापक किया, करते चले गये हैं। भोपाल, होशंगाबाद, इन्दौर, उज्जैन, वाराणसी, धार, रायपुर, खण्डवा, हैदराबाद, बैंगलोर आदि शहरों, इन शहरों के विश्वविद्यालयों में वे अनेक विषयी आयामों के साथ होकर आये हैं। किशोर कुमार, विजय आनंद, सिनेमा संगीत में उस्तादों का योगदान, वी.के. मूर्ति, नौशाद, विशेष रूप से मुगले आजम, पाकीजा, सदी की दस श्रेष्ठ फिल्में आदि विषयों के साथ दर्शकों को उनका बांधना प्रभावित करने वाला है। अनिल चौबे किसी भी दृश्य को उसकी पूर्णता और पूर्णविराम के बीच संवेदनशील ठहराव को पहचानकर चुनते हैं। दृश्य चुनते हुए उनकी प्राथमिकताओं में सदैव कैमरा एंगल रहा है। वे अपने को उसी से अनुशासित करते हैं। दर्शकों के सामने वे जो दृश्य प्रस्तुत करते हैं उस दृश्य में अधिकतम क्या-क्या है उसको जानना उनके माध्यम से बड़ा दिलचस्प होता है। वे कई बार छोटे-छोटे दृश्यों में दिखायी देने वाले कलाकारों का, जिन्हें हम प्राय: नहीं जानते, अचानक परिचय देते हैं तो आश्चर्य होता है। वे पार्श्व संगीत में योगदान करने वाले कलाकार का नाम बतलाते हैं तो चकित हो जाना पड़ता है। कई बार उनके द्वारा समझाये गये दृश्य प्रभाव को लेकर हमारी अपनी अनुभूतियों, हमारे अपने आकलन पर पुनर्विचार करना पड़ता है। कहीं न कहीं हमें निश्चित ही उसका हल भी मिलता है।

दरअसल भारतीय सिनेमा का स्वर्णयुग, उसका अपना इतिहास बहुत समृद्ध रहा है। दर्शक के रूप में हम सिनेमा से कभी भी इतने गहरे जुड़ सकें, ऐसी स्थितियाँ प्राय: नहीं ही होती हैं। सिनेमा हमें मनोरंजन का माध्यम ही सदैव लगा है, उससे ज्यादा उदारता हमने उसके प्रति दिखायी भी नहीं जबकि सौ साल के सिने इतिहास में कम से कम आरम्भ के सत्तर साल अत्यन्त महत्व के रहे हैं। उस पूरे कालखण्ड में जो फिल्मकार हुए हैं उन्होंने अपनी परम्परा से, अपने पुराणों से, अपने इतिहास से और बड़ी ही संवेदनशीलता के साथ अपने सामने के जीवित समाज से जो कुछ सीखा, समझा और ग्रहण किया, उसी को आधार बनाकर सिनेमा में प्रस्तुत किया। जब भारत के सिनेमा पर विश्व के सिनेमा की छाया पड़ना शुरू हुई। आते हुए फिल्मकारों के सामने मौलिकताओं के संकट हुए और सहजतापूर्वक दुनिया का सिनेमा उन्हें सुलभ हुआ तब रंग-बिरंगे सिनेमा में बहुत सारा रंगीन हो गया, बहुत सारा मूलभूत धीरे-धीरे अनुपस्थित होने लगा, बहुत सारा नया सा कुछ दिखायी देने लगा। बाद के सिनेमा की यात्रा कुछ इसी तरह की रही है। बाद के सिनेमा की को देखने वाली पीढ़ी के अपने तर्क और नजरिए हैं। सौ साल के बाद सिनेमा का नया दशक आरम्भ हो चुका है, हम आज का सिनेमा देख रहे हैं। अनिल चौबे इस सारे परिवर्तन को सकारात्मक ढंग से और पूरी उदारता के साथ देखते हैं। वे कहते हैं कि पीढ़ियाँ अपने पसन्द का सिनेमा चुन रही हैं, प्रोत्साहित कर रही हैं, देख रही हैं। पुराने पड़ते लोग दकियानूसी हो जाते हैं।

सिने पटकथा

नये विमर्श की दरकार

राहुल सिंह

हर साल सर्वश्रेष्ठ फिल्म का ऑस्कर जीतनेवाली फिल्म के बारे में निर्विवाद तौर पर सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि वह फिल्म शर्तियां तौर पर अमेरिकी विदेश, सामरिक और साम्राज्यवादी नीतियों की पक्षधर न भी हो तो उसकी विरोधी तो कत्तई नहीं हो सकती है और संभव है कि पुरस्कृत फिल्म से ज्यादा बेहतर फिल्म सिर्फ नामित होकर रह गई हो। हाल के वर्षों में इसका सबसे शर्मनाक उदाहरण 2010 में देखने को मिला जब 'अवतार' की जगह 'हार्ट लॉकर' की झोली में अकादमी पुरस्कारों की बारिश हो गई थी। इस साल नामित फिल्मों में 'आर्टिस्ट' की तुलना में स्टीवन स्पीलबर्ग की 'वार हार्स' थोड़ी बेहतर विकल्प थी, ह्यूगो अभी देखी नहीं है। बुनियादी तौर पर 'वार हार्स' एक युद्ध विरोधी फिल्म है और 'आर्टिस्ट' बाजार के पक्ष में खडी फिल्म है। लेकिन जिस कुशलता

पुरस्कृत फिल्म 'हार्ट लॉकर' रोमांचक दृश्य

से इसे बुना गया है वह तारीफ की हकदार है। सिनेमा विधा के बतौर यह एक महत्त्वपूर्ण फिल्म है। कहानी फकत इतनी है कि मूक फिल्मों का महानायक बोलती फिल्मों के दौर में बाजार की शर्तों पर खुद को ढालने से इनकार करके बेकारी और बर्बादी के रास्ते पर चला जाता है। एक कलाकार की खुद्दारी को उसकी नासमझी, बेवकूफी और झूठी अहम्मन्यता से बेहद चालाकी से रिप्लेस किया गया है।

आर्टिस्ट एक साथ कई स्तरों पर चलती है। यह एक ओर केन्द्र के हाशिये में पहुंचने और दूसरी ओर हाशिये के केन्द्रीकरण की कथा कहता है तो तीसरी ओर मुहब्बत इन दोनों सिरों को बखूबी जोड़ने का काम करती है। जिससे विचारधारा को संवेदना के लिहाफ में ढंक कर परोसा जा सके। चौथे स्तर पर यह सिनेमा विधा के इतिहास के उस दौर को संबोधित है जब मूक फिल्मों का दौर खत्म हो रहा था और बोलती फिल्मों (टॉकीज) का चलन आरंभ होने को था। इस बार का ऑस्कर आर्टिस्ट को नहीं बल्कि संक्रमण के उस दौर को बाजार के चश्मे से न्यायसंगत साबित करनेवाली मेधा को दिया गया है। और समग्रता में यह पूंजीवाद के पक्ष में जरुरी तर्क का निर्माण करती है। इसे समझने के लिए फिल्म के कथासूत्रों को फिर से देखना होगा। रुडोल्फ वेलेन्टिनो (ज्या दूज्वार्दी) जो 1927 तक मूक फिल्मों का महानायक था। टॉकीज के आने पर उसके अनुरुप खुद को ढालने की बजाय यह कहता है कि 'मैं एक कलाकार हूं न कि इशारों पर नाचनेवाला गुड्डा'। पर फिल्म में वेलेन्टिनो की इस इंटीग्रिटी को लगातार उसकी अहमन्यता और झूठे पौरुष में रिड्यूस करने की बेहद बारीक कोशिश लगातार देखी जा सकती है। चाहे उसका टॉकीज के खिलाफ अपनी जीवन भर की जमा-पूंजी से 'टीयर्स आफ लव' नामक फिल्म का निर्माण हो, एक साल से बिना वेतन के काम कर रहे ड्राइवर को काम से निकालने का हुक्म हो, सामानों के गिरवी करने से मिले पैसों में से भी कुछ को यूं ही दान कर जाना, पेपी मिलर द्वारा फिर से सहायता के प्रयासों से भाग कर आत्महत्या के प्रयास आदि। जबकि वेलेन्तिनो का संघर्ष बाजार से, नई पूंजीवादी तकनीक से है। हमेशा पृष्ठभूमि में सिगार दबाये रखने वाले किनोग्राफ स्टूडियो के मालिक अल जिमर (जॉन गुडमैन) के कुछ संवादों को ध्यान से पढें। जब वह टॉकिज के बारे में कहता है कि 'यही भविष्य है। जनता नये चेहरे चाहती है, बोलते चेहरे चाहती है और जनता कभी गलत नहीं होती है।' फिल्म एक उद्योग भी है, जिसमें निर्माता का उद्देश्य निर्देशक और अभिनेता से अलग होता आया है। निर्माता मुनाफा चाहता है। निर्माता बाजार की गोद में बैठा होता है। बाजार की नब्ज को तलाशता। इसलिए स्टूडियो का मालिक अल जिमर जनता के जरिये मुनाफे का तर्क गढ़ता है। वेलेन्टिनो की मूक फिल्म 'टीअर्स ऑफ लव' की भारी असफलता और पेपी मिलर की टॉकीज 'ब्यूटी स्पाट' की अप्रत्याशित सफलता निर्माता की दूरदर्शिता को

साबित करती है। इस लिहाज से देखें तो आर्टिस्ट कला के स्वायत्तता और कलाकार की स्वतंत्रता को मार्केट फोर्सेस के सामने नतमस्तक होने की दास्तान है। ऐसा कहने की वजह भी है और वह यह कि फिल्म के बीच में यूं ही एक दृश्य आता है जो पूरे फिल्म से बिलकुल कटा जान पड़ता है। वेलेन्तिनो किसी ऐतिहासिक फिल्म की शूटिंग कर रहा है और सीन ओके होने पर अल जिमर उसे कुछ दिखलाने के लिए ले जाता है। तभी उस ऐतिहासिक फिल्म से राजसी पोशाकों को धारण करने वाला एक किरदार बैठने के लिए कुर्सी मांगता है। इस पर स्टूडियो का दरबान कहता है कि 'तुम एक मामूली एक्सट्रा हो कोई नेपोलियन नहीं जो तुम्हें कुर्सी दी जायेगी।' दर असल यही फिल्म का केन्द्र है। यहीं से फिल्म अपने एजेण्डे पर आती है। वेलेन्तिनो की असाधारण (एक्सट्राऑडिनरी) से साधारण (ऑडिनरी) की यात्रा शुरु होती है और पेपी मिलर की साधारण से असाधारण बनने की कथा आरंभ होती है (नेपोलियन क्या यूं ही संवादों के बीच आ गया था या उसमें इस बात के संकेत छिपे थे कि टॉकीज वेलेन्तिनो के लिए वाटरलू जैसी परिस्थितियां निर्मित करने जा रहा है।) दोनों कहानियां एक दूसरे को इंटरसेक्ट करती हैं। वेलेन्तिनो की विफलता पेपी की सफलता के बरक्स ही पूरे फिल्म में मौजूद है।

फिल्म का एक दृश्य है जहां वेलेन्तिनो एक रेस्त्रां में डिनर कर रहा है और उसके पीछे पेपी की इंटरव्यू लिया जा रहा है। पत्रकार पेपी से पूछता है कि अभी आपकी फिल्म रीलिज भी नहीं हुई है और आप हालीवुड की सुपरस्टार बन गई हैं। कैसे? पेपी का जवाब है कि इसलिए कि 'लोग पुराने अभिनेताओं को कैमरे की ओर मुंह बनाते देख कर उब चूके थे, अब वह उनके भावों को समझने के लिए अपना दिमाग खपाना नहीं चाहते हैं। जीवन पुरानों को बेदखल कर नयों के लिए रास्ता तैयार करता है, बस।' इस पर वेलेन्तिनो अपनी कुर्सी पर से उठता है और कहता है 'मैंने तुम्हारे लिए रास्ता बनाया।' यह एक बहुध्वन्यात्मक वाक्य है। फिल्म में पेपी के लिए सफलता के दरवाजे खोलने का काम वेलेन्तिनो ने ही किया है, दूसरे मूक फिल्मों की आधार भूमि के बगैर टॉकीज की परिकल्पना साकार ही नहीं होती और तीसरे वेलेन्तिनो की असफलता में पेपी की सफलता के सूत्र निहित हैं। इसे यों भी देखा जा सकता है कि एक मामूली एक्सट्रा अपने लिए नेपोलियन की कुर्सी हासिल करने में सफल होती है। वेलेन्तिनो की कोशिश काल से लगाई गई एक हारी हुई होड़ है। आर्टिस्ट चार्ल्स डार्विन के योग्यतम ही जीता है के सिद्धांत का पूंजीवादी भाष्य है।

वेलेन्तिनो के मूक फिल्मों के प्रति दीवानगी या आस्था को चार्ली चैप्लिन के टॉकीज के संदर्भ में व्यक्त किये गये विचारों के साथ भी रख कर देखे जाने की जरुरत है। मूक फिल्मों के इस सार्वकालिक नायक ने टॉकीज के बारे में कभी कहा था कि 'वे धरती के प्राचीनतम कला मूकाभिनय का नाश करने पर उतारु हैं। वे खामोशी के महत् सौन्दर्य को बर्बाद करने पर आमादा हैं। वे पर्दे के मायने को समाप्त करना चाहते हैं। पर्दे का संबंध दृश्य से है न कि श्रवण से। संवाद हमेशा मेरे एक्शन को धीमा करने का काम करता है क्योंकि क्रियाएं शब्दों पर आश्रित होती हैं।' चार्ली चैप्लिन के इन उद्‌गारों के बरक्स वेलेन्तिनों की टॉकीज के प्रति व्यक्त की गई प्रतिक्रिया को देखें तो वेलेन्तिनो अहमन्य नहीं अपने माध्यम के प्रति एकनिष्ठ ठहरता है। परिवर्तन इतिहास का नियम है। वेलेन्तिनो का संघर्ष स्वयं इतिहास से है। फिल्म का सबसे कमजोर पहलू उसका सुखांत है। जो भले अपने अस्तित्व को बचाये रखने के लिए पुनर्नवता की बात करता है। पर लगभग समान परिस्थितियों में 'डर्टी पिक्चर' में सिल्क की आत्महत्या, आर्टिस्ट के वेलेन्तिनों के सर्वाइव कर जाने से ज्यादा गरिमापूर्ण है जो इस बात को रेखांकित करती है कि क्रिटिकली एक्लेम्ड फिल्में यूं तो गंभीर मानी जाती हैं पर कई बार पोपुलर कैटगरी की फिल्में भी गंभीर विमर्श की मांग करती हैं।

'यह सिनेमा विधा के इतिहास के उस दौर को संबोधित है जब मूक फिल्मों का दौर खत्म हो रहा था और बोलती फिल्मों (टॉकीज) का चलन आरंभ होने को था। इस बार का ऑस्कर आर्टिस्ट को नहीं बल्कि संक्रमण के उस दौर को बाजार के चश्मे से न्यायसंगत साबित करनेवाली मेधा का दिया गया है। और समग्रता में यह पूंजीवाद के पक्ष में जरुरी तर्क का निर्माण करती है। इसे समझने के लिए फिल्म के कथासूत्रों को फिर से देखना होगा।'

इस सुरीली ज़िद का स्वागत!

शेष विशेष

विनय उपाध्याय

प्रयोग की स्वायत्त और खुली ज़मीन पर सृजन की नई संभावनाएँ सदा ही सिर उठाती रही है। कुछ हदबंदियाँ टूटती हैं। कुछ धारणाएँ दरकती हैं। जड़ताएँ पिघलती हैं। नया और अनूठा इसी टूट-फूट के बीच आकार लेता है। तयशुदा साँचों से बाहर निकलकर तहज़ीब भी तो आखिर नए ज़माने से आँख मिलाना चाहती है। इसी गरज से पंडितों-आचार्यों और पोथियों तक महफ़ूज़ रहने वाली प्राचीन भाषा संस्कृत को अब सुर के पंखों पर सवारकर दुनिया की उड़ान भरने की उम्मीद जगाई है। थोड़ा आश्चर्य हो सकता है और परंपरा का गुलबंध बाँधे रहने वाले चंद स्वनामधन्य आलोचकों को नागवार भी लगे लेकिन देववाणी संस्कृत की ऋचाएँ और काव्य अब पूरब-पश्चिम के सांगीतिक साहचर्य के साथ आस्वाद, रसिकता और रंजकता के नए क्षितिज खोल रहे हैं। इस साहसिक नवाचार की मिसाल गढ़ने आखिर युवाओं की ज़िद ही कारगर हुई।

ज़िक्र भोपाल के 'ध्रुवा' वाद्य वृन्द का, जो दुनिया का पहला और अकेला ऐसा समूह है जिसने करीब दो हज़ार बरस पुराने संस्कृत साहित्य को नया सांगीतिक संस्कार देकर उसे वैश्विक अनुगूँज बनाने का अभियान शुरू किया है। अभी कुछ दिन पहले भोपाल में केन्द्र सरकार द्वारा संचालित राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान और हिन्दी भवन में 'ध्रुवा' के कलाकारों की पहली प्रस्तुति से बहुतों को प्रत्यक्ष होने का मौका मिला। आमतौर पर कर्मकाण्डों या आध्यात्मिक जागृति के अनुष्ठानों के आसपास सुनाई देने वाली वैदिक ऋचाओं, मंत्रों या संतों-आचार्यों के काव्य पदों को जब शंख, बाँसुरी, तबला-पखावज़ जैसे भारतीय मूल के वाद्यों और हारमोनियम-गिटार तथा एकॉस्टिक ड्रम जैसे पश्चिमी साज़ों की लय-ताल भरी संगत में 'ध्रुवा' ने गुनगुनाया तो माहौल में नए आध्यात्मिक माधुर्य और आनंद का संचार हुआ। यह मिठास, अतीत, आज और आगत के बीच एक सुरीले रिश्ते की ही नहीं, संगीत के सप्तक की उस शक्ति का भी प्रतीक बनी जिसके ज़रिए सारी दुनिया भर में अमन, एकता और आपसदारी का राग भी छेड़ा जा सकता है। बहरहाल। इस अद्वितीय सूझ के सूत्रधार बने संस्कृत के युवा शोधार्थी संजय द्विवेदी, जिनके पास संगीत की जन्मजात समझ है और लीक से हटकर अपनी

आदर्श परंपरा और संस्कृति के उन्मेष के लिए सोचने-रचने की बुद्धि तथा कौशल भी है। संजय के गंभीर प्रयत्नों में नाट्यशास्त्र के गहन अध्ययन की बुनियाद और श्रवण के संस्कारों को भी लक्ष्य किया जा सकता है। 'ध्रुवा' के आसपास संजय की कोशिशों के बीच उनकी उस कशिश को किनारे नहीं किया जा सकता जो उन्हें इस मुकाम तक ले आयी- ''स्कूल के दिनों तक संस्कृत चाहे-अनचाहे हमारी जुबां पर रहती आयी लेकिन बाद में इसे भुला दिया गया जबकि इसी भाषा से अन्य भाषाओं का भरा-पूरा संसार बना। इसी भाषा में वेदों से लेकर दुनिया के महानतम ग्रंथ रचे गए। नैतिकता के पाठ इसी संगठित भाषा की देन हैं। लगा, कि इस विरासत को आधुनिकता के हो-हल्ले में हाशिए पर नहीं छोड़ा जाना चाहिए। इस भाषा के प्रति प्रेम और रंजकता का एकमात्र माध्यम हमें संगीत लगा। लम्बे सोच-विचार और अभ्यास के बाद 'ध्रुवा' ने जन्म लिया''। गौर करने की बात है कि इस नवाचार के साथ देश के प्रकाण्ड कला अध्येताओं की प्रेरणा और सलाहें जुड़ी हैं। मार्गदर्शकों की इस सूची में संस्कृतिविद राधावल्लभ त्रिपाठी, शास्त्रीय गायिका और पंडित कुमार गंधर्व की शिष्या मीरा राव तथा प्रसिद्ध संतूर वादक-संगीतकार ओमप्रकाश चौरसिया के नाम हैं। कलाकारों की जो युवा फौज़ 'ध्रुवा' का अहम हिस्सा बनी हैं उनमें संयोजक-संस्थापक संजय द्विवेदी के अलावा विद्याधर आमटे (बाँसुरी), संजीव नागर (तबला), आतिफ सईद (गिटार), सनी शर्मा (एकॉस्टिक ड्रम), राहुल दिलारे (एकॉस्टिक परकशनिस्ट), क्षमा कपूरे, वैभव संतोरे और ज्ञानेश्वरी (गायक) जैसे उत्साही नाम हैं।

शंखनाद और ओंकार की आदि-श्रुति से 'ध्रुवा' की प्रस्तुति का मंगलाचरण होता है। फिर ऋग्वेद का मंत्र 'सहना भवतु, सहनौ भनत्तु' के साथ अन्य मंत्र 'भैरव' के भाव-स्वर में भक्ति के उदात्त शिखर पर ले जाते हैं। इसी बीच शिवतांडव, शंकराचार्य की बहुश्रुत रचना 'भजगोविन्दम' के आरोह-अवरोह में लयबद्ध होता पूरब-पश्चिम का संगीत शब्द-सुरों की बाहें पसारकर मानवीयता का वैश्विक उद्घोषक करने लगता है। युवा कंठ मीठी-मनुहार के साथ गाने लगते हैं- ''हम ध्रुवा हैं, हम आए बाँटने चैन''। बेजान और बेचैन आदमी के लिए सुर की दवा ने ही तो अमृत-सा असर किया है। वल्लभाचार्य के 'मधुराष्टकम' को आखिर में सुनते हुए उस रस-माधुरी की ही आकांक्षा प्रगाढ़ होती है जो जीवन का परम सत्य है।

'ध्रुवा' की इस दिव्यता को साधने का उपक्रम करीब पाँच बरस से ज़ारी था लेकिन इसकी औपचारिक शुरुआत के लिए इस बरस की बसंत पंचमी की तिथि तय हुई। संस्कृत और संगीत की दो-धाराओं को मिलाकर 'ध्रुवा' की ये जो नई मूरत तैयार हुई है, उसके मिट्टी-गारे, नैन-नक्श, मुद्राओं, भाव-भंगिमाओं और साज-सज्जा पर, प्रस्तुति के रंग-ढंग पर अभी प्रतिक्रियाएँ आना बाकी हैं। बकौल संजय, हम बहुत पवित्र मन और संकल्प के साथ भारत की मान्य भाषा के पक्ष में आगे आए हैं। यह काम हम युवाओं के ज़रिए हो सका इसका मुझे गर्व है। यह हमारा फर्ज़ भी है। ...अब सरकार और सक्षम संस्थाओं को चाहिए कि वे 'ध्रुवा' की हिमायत करें।

ऐसा नहीं कि संस्कृत की ऋचाओं और श्लोकों की संगीत से यह सोहबत नई-नई है। संस्कृत साहित्य का रिश्ता गान-स्वर से हज़ारों बरस पुराना है हम यहाँ सामगान को याद करें। लेकिन अभिरुचियों और मनोरंजन के बदलते दौर में सम्प्रेषण की भाषा में भी परिवर्तन की ज़रूरत है। हालांकि संस्कृत के मंत्रों के साथ ध्वनि-विज्ञान जुड़ा रहा है और गहरा आध्यात्मिक विमर्श भी लेकिन एक वैज्ञानिक और हमारी तहज़ीब की बुनियाद रही भाषा से छिटक रहे ज़माने से पुनः मैत्री और अनुराग के लिए 'ध्रुवा' की ज़िद का स्वागत किया जाना चाहिए।

●●● स्वर, ताल और शब्द के गुँथे हुए रूप को ध्रुवा कहते हैं। ध्रुवा गीत-संगीत की सबसे पुरानी विधा है। इसी से, कालान्तर में ध्रुपद का विकास हुआ। संस्कृत साहित्य की **2000** वर्षों की परम्परा में अनेक स्थानों पर इसका उल्लेख मिलता है। आचार्य भरत मुनि ने नाट्य शास्त्र में इसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है। ध्रुवा के दूसरे अर्थ हैं- प्रत्यंचा, यज्ञ में आहुति देने का पात्र।

●●● शांति, आनंद और प्रेम- जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकताएँ हैं और इन्हीं के बाद मुक्ति संभव है। ध्रुवा के केन्द्र में यही भाव है। ध्रुवा उसी शान्ति, आनन्द और प्रेम की सबसे प्राचीन किन्तु, सबसे नवीन परिभाषा है।

●●● शास्त्रीय एवं पारम्परिक संगीत के ताने-बाने में वेदों के मंत्र, संस्कृत कवियों के दार्शनिक स्त्रोत, गीत, श्लोक (वेदव्यास, बाल्मीकि, कालीदास, भवभूति, जयदेव और आदि शंकराचार्य से लेकर आधुनिक कवियों तक) एवं संत कवियों जैसे- कबीर, सुर, मीरा आदि की आध्यात्मिक-दार्शनिक रचनाओं की प्रस्तुति- भारत में पहली एवं अपने ढंग की अनूठी परिकल्पना है।

* सृजन के आसपास *

नई रंग ऊर्जा की तलाश

रंग आधार और वनमाली सृजन पीठ का साझा आयोजन

विश्व रंगमंच दिवस के अवसर पर भोपाल के भारत भवन में रंग आधार नाट्य समारोह का वार्षिक आयोजन हुआ। वनमाली सृजन पीठ के सहयोग से समारोह का यह सोलहवां वर्ष था। इस बार दस दिन की बजाय आयोजन मात्र तीन दिवसीय रहा, अलबत्ता तीनों ही दिन की नाट्य प्रस्तुतियाँ सफल रहीं और इन्हें देखने बड़ी तादाद में दर्शक टिकट खरीद कर आए। समारोह में प्रदर्शित नाटक थे- 'शेडो ऑफ मैकबेथ', 'हास्य चूड़ामणि' और 'जाना था रोशनपुरा'। तीनों ही प्रस्तुतियों की अनेक विशेषताएँ थीं लेकिन कथानक निर्वहन, वेशभूषा, संगीत, आंगिक-वाचिक और नाट्य प्रभाव का समग्रता में विचार किया जाए तो विहान ड्रामा वर्क्स, भोपाल का सौरभ अनंत निर्देशित नाटक 'हास्य चूड़ामणि' समारोह का मुकुटमणि रहा।

पहली शाम सुपरिचित रंग हस्ताक्षर मनोज नायर के नए नाटक- 'शेडो ऑफ मैकबेथ' का मंचन हुआ। मनोज माइम कला के प्रतिनिधि कलाकार के रूप में ख्यात हैं। वे जितने अच्छे निर्देशक हैं, उतने ही बढ़िया अभिनेता भी। शेडो ऑफ मैकबेथ में भी सूत्रधार सूरज (योगेश परिहार) के माध्यम से उन्होंने मैकबेथ की मूकाभिनय में चलती कथा को सम-सामयिक और वर्तमान काल से जोड़ने की अच्छी कोशिश की है। अपनी अत्यधिक महत्वाकांक्षा के चलते लेडी मैकबेथ जिस तरह मैकबेथ का हश्र करती है, उसी का आज के सन्दर्भों में रूप हमें सूरज के यथार्थ में दिखाई देता है। नाटक में केवल एक ही डायन (स्मिता नायर) ने सजीव और सधे हुए मूकाभिनय और आंगिक गतियों से इस किरदार में जान फूंकी। बाकि दो चुड़ैलों, को हर्षवर्धन कड़वे के बनाए फेस मास्क ने साकार किया। मैकबेथ (शोभित खरे), मैकडफ (अलोक तायडे), मेल्कम (वसीम खान), बेंको (रजत शर्मा), रोस (आहन सोमवंशी) और मैकबेथ (स्मिता नायर अगेन) ने अपने किरदारों को मूकाभिनय के बावजूद दर्शकों के मानस पटल पर अंकित किया। डंकन के किरदार में खुद मनोज नायर थे। इस नाटक के दृश्य-दर-दृश्य सिनोप्सिस लिखे जाना और उन्हें दर्शकों तक मंचन पूर्व उपलब्ध कराना एक योग्य कदम होगा। मतलब, ऐसा नहीं कि माइम दर्शक समझ नहीं पाते। लेकिन हमें ये भी देखना होगा कि मैकबेथ कोई 'रामकथा' नहीं है, जिसे इस देश का बच्चा-बच्चा जानता हो।

दूसरी शाम 'विहान ड्रामा वर्क्स' के कलाकारों ने सौरभ अनंत के निर्देशन में नाटक- 'हास्य चूड़ामणि' का प्रभावी मंचन किया। नाटक 'हास्य चूड़ामणि' के पूर्व भी एकाधिक मंचन हुए हैं परन्तु इसके बावजूद इसे देखने बड़ी संख्या में नाट्य प्रेमी एकत्र थे। नाटक ग्यारहवीं शताब्दी में लिखे गए महामात्य वत्सराज के एक संस्कृत प्रहसन पर आधारित है। बढ़िया बात ये कि निर्देशक ने बुंदेली बोली में रचकर (बुंदेली रूपांतरण-शिवानी सिंह) इसे खालिस 'देसी महक' से भर दिया है। नाटक में शारीरिक गतियों का सम्मोहन है, गीत-संगीत का लावण्य है, अभिनय का ठेठ ग्राम्य स्वरूप है और महत्वपूर्ण ये कि प्रस्तुति में नाट्य विधानों का सुन्दर उपयोग किया गया है। मसलन

चोर को पकड़ने के दृश्य बंध मे एक ही स्थान पर 'स्लो मोशन' से गति का आभास कराना, संवादों में 'पंचेस' डालना, आभूषणों के लिए रस्सी-सुतली का प्रयोग आदि।

कथा बिल्कुल साधारण है और संस्कृत के अन्य प्रहसनों खासकर 'गवदज्जुकियम' से कई जगह पर मेल खाती है। नगर की गणिका प्रौढ़ा नायिका 'कपटकेली' (निवेदिता सोनी) की आभूषणों की गठरी कलाकरंडक (अंकित पारोचे) चुरा लेता है जो गणिका की पुत्री मदन सुंदरी (श्वेता केतकर) का प्रेमी भी है। यानि कहानी में प्रत्यक्ष रूप से तो गणिका के आभूषणों की चोरी होते दिखती है पर दरअसल चोरी तो गणिका की अनमोल पूँजी, उसकी बेटी की हो रही है। चोर पकड़े जाने के डर से अपने आभूषणों की गठरी साधु ज्ञानराशि (हेमंत देवलेकर) के पास छोड़ जाता है। साधु का एक शिष्य कौटिल्य (हीरा धुर्वे) भी है जो चोर की तलाश में आई कपटकेली की दासी पर लट्टू हो जाता है जबकि ज्ञानराशि तो स्वयं मदनसुन्दरी के रूप से इतने बॉवले हो जाते हैं कि अपने प्रणय निवेदन में सुंदरी को ज्ञानराशि की जगह 'ज्ञानु' पुकारने को कहते हैं। अच्छी-खासी हास्य रस से भरी परिस्थितियों से गुजरकर नाटक सुखान्त को पहुँचता है। नाटक में गीत संगीत का सुन्दर उपयोग हुआ और कोरस गीत- 'चोर चोर चोर चोर' याद रह जाता है। अन्य कलाकारों में पल्लविका (एकता गोस्वामी), कुसुमिका (शिवानी सिंह), मुद्रक (आशीष प्रसाद), कोकिल (जयदीप चक्रधर) और पारावत (अंकित मिश्रा) का अभिनय भी सराहा गया। हेमंत देवलेकर का गीत-संगीत दृश्य परिवर्तन में निदेश मांगरोले का बाँसुरी वादन, सुदीप सोहनी का हारमोनियम वादन और गायन तथा प्रशांत श्रीवास्तव का ताल वाद्य आदि ने प्रस्तुति का वैभव निखारने में अच्छी मदद की। रंग-आधार नाट्य समारोह की तीसरी और समापन संध्या में टी.वी.-रंगमंच अभिनेता वीरेन्द्र सक्सेना के निर्देशन में मुंबई की संस्था-किस्सागो ने नाटक- 'जाना था रोशनपुरा' का मर्मस्पर्शी मंचन किया। अंतिम शाम दर्शकों की इतनी ज्यादा तादाद आई थी कि आयोजक को अंतरंग सभागार के बाहर स्क्रीन पर नाटक दिखाने की व्यवस्था करनी पड़ी। मंच पर कैंसर से दिवंगत बेटी पंजा (समता सागर) के भावुक पिता अवस्थी जी के किरदार क्वीरेंद्र सक्सेना ने दिल की गहराइयों से अभिनय कर दर्शकों की आँखें नम कर दीं। उनके दामाद चन्दन के किरदार को सुपरिचित अभिनेता रवि महाशब्दे ने भी उतनी ही ताकत और गहराई से निभाया। अपने संक्षिप्त फ्लैश बैक के दृश्य में समता सागर भी आई और उनके अपने पिता तथा पति से प्रेम के रिश्ते की मठिास दर्शकों तक बखूबी पहुँचा गयी। धीरेन्द्र द्विवेदी की प्रकाश परिकल्पना और अजय कुमार का ध्वनि प्रभाव प्रस्तुति के अनुकूल रहे। इस प्रस्तुति में अगर कुछ कमी थी तो वो यही कि अभिनेताओं के संवाद कई स्थानों पर इतने धीमे बोले गए कि दर्शकों को उन्हें समझने में तकलीफ हुई। ऐसा अभिनेताओं के 'कैमरा एक्टिंग' से लम्बे समय से जुड़ने रहने और रंगमंच की 'प्रोजेक्ट आधारित संवाद

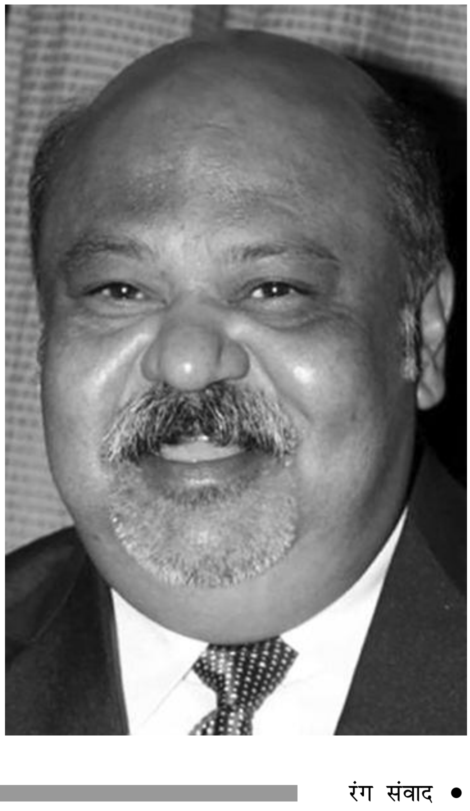

आईसेक्ट के मंच पर सौरभ शुक्ला

खुद को पहचानो और साबित करो

आईसेक्ट विश्वविद्यालय भोपाल में हिंदी फिल्मों के जाने माने अभिनेता, निर्देशक, स्क्रीनराइटर सौरभ शुक्ला छात्रों के रुबरु हुए और अपनी बातें साझा कीं। सौरभ शुक्ला ने अपने जीवन की कठिनाइयों से जूझने व सफलता के शिखर तक पहुंचने के संघर्ष की बातें साझा कीं जिससे कि छात्रों को भी सीखने को मिला कि वे भी कैसे संघर्ष कर सफलता के शिखर पर पहुंच सकते हैं और समाज निर्माण में अपना सर्वश्रेष्ठ योगदान किस प्रकार दे सकते हैं जिससे कि हमारा राष्ट्र सशक्त बन सके। उन्होंने छात्रों को बताया कि फिल्म इंडस्ट्री में अलग-अलग तरह के लोग हैं इसमें खुद को पहचानना और साबित करना पड़ता है। उन्होंने थिएटर व फिल्म के अंतर को भी छात्रों को सरल व सहज अंदाज में समझाया।

कार्यक्रम में छात्रों ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया व अपने मन के संशय भरे प्रश्नों से हिंदी फिल्मों को नए नजरिए से जाना। छात्रों द्वारा पूछे गये प्रश्नों पर अभिनेता सौरभ शुक्ला ने बेबाक प्रतिउत्तर दिया व छात्रों की जिज्ञासाओं को परिपूर्ण किया। कार्यक्रम का संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया एवं अंत में आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलसचिव विजय सिंह ने स्मृति चिन्ह भेंट स्वरूप दिया।

अदायगी' के बहुत अभ्यस्त न रहने से हुआ। इसी तरह कथा में ससुर और दामाद के बीच की तल्खी और नोक-झोंक को मनोरंजक ढंग से उभारा तो गया है लेकिन कई क्रिया-प्रतिक्रिया 'दोहराव' से ग्रस्त हैं।

हर साल 10 दिन चलने वाला रंग-आधार नाट्य समारोह इस साल सिकुड़ कर तीन दिवसीय रह गया। रंग-आधार के समन्वयक राकेश सेठी का कहना है कि अपने स्थाई दर्शकों को लगातार 8-10 दिन तक समारोह में खींचना कुछ कठिन हो जाता है। बतौर आयोजक भी काफी थकान हो जाती है। लोगों की एकरसता भी टूटेगी और समारोह का स्वरूप भी निखर सकेगा। **-विवेक मृदुल**

सृजनधर्मियों का सम्मान

ललित कलाओं के लिए समर्पित भोपाल की संस्था स्पंदन की ओर से सम्मान समारोह का आयोजन भारत भवन में प्रख्यात कथाकार गोविंद मिश्र की अध्यक्षता में किया गया। रचनाकारों की रचनात्मकता तथा कलात्मकता पर सुप्रसिद्ध कथाकार मुकेश वर्मा ने टिप्पणी प्रस्तुत की। कथा शिखर सम्मान स्वयं प्रकाश को निरन्तर सृजनशील वरिष्ठ कथाकार के लिए। साहित्यिक पत्रकारिता सम्मान ज्ञानरंजन को (पहल के लिए) ललितकला सम्मान कलापिनी कोमकली (गायन के लिए) कृति सम्मान भालचंद जोशी को ('जल में धूप' कथा संग्रह के लिए) कृति सम्मान दिनेश कुशवाह को ('इसी काया में मोक्ष' कविता संग्रह के लिए) आलोचना सम्मान सुशील सिद्धार्थ को (आलोचना कर्म के लिए) प्रवासी कथा सम्मान सुधा ओम ढींगरा को (प्रवासी कथा साहित्य के लिए) बाल साहित्य सम्मान राष्ट्रबंधु को (बाल साहित्य के लिए) प्रदान किया गया। स्वयं प्रकाश को सम्मान स्वरूप इकतीस हजार रुपए की राशि, शॉल तथा स्मृति चिह्न जबकि शेष सम्मानों के लिए ग्यारह-ग्यारह हजार रुपए की राशि, शॉल तथा स्मृति चिह्न दिए गए।

स्वागत वक्तव्य कथाकार-कवि डॉ. वीणा सिन्हा ने दिया। सम्मानों की चयन प्रक्रिया तथा उद्देश्यों पर कथाकार तथा संयोजक उर्मिला शिरीष ने प्रकाश डाला। गोविंद मिश्र ने कहा कि लेखक के लिए उसकी रचना की प्रमुख होती है। उन्होंने कहा कि आज के समय में साहित्य की मनुष्यता, संवेदना तथा करुणा को बचाए रखने का माध्यम है। कार्यक्रम का संचालन डॉ. अणिमा खरे ने किया और आभार डॉ. आनंद सिंह ने व्यक्त किया। स्वागत संस्था के अध्यक्ष डॉ. शिरीष शर्मा ने किया।

पुष्प स्मरण

बच्चों का किताबों से सरोकार रहे और वे बाल सहित्य पढ़ सके। ऐसी स्थिति और वातारण निर्माण का काम हमारा है। यह कहा विचारक और व्यंग्य लेखक डॉ. सुरेश गर्ग ने जब वह बाल साहित्यकार और कवि घनश्याम मुरारी पुष्प की स्मृति में विदिशा में आयोजित पुष्प स्मरण कार्यक्रम की परिचर्चा में अपना उद्‌बोधन दे रहे थे। इस कार्यक्रम की अध्यक्ष कोमरेड माधो सिंह और मुख्य अतिथि एच.एन. नेमा थे। आरंभ में प्रतिष्ठा, प्रशंसा, अंशिका और आशुतोष पाठक ने पुष्प जी की कविताओं का गायन किया। फिर राजेन्द्र श्रीवास्तव अवाम विवेक ने कार्यक्रम की प्रस्तावना रखी। बी.एल. उपाध्याय, कालूराम पथिक, दिनेश मिश्र, वनिता वाजपेयी, नेमा जी और माधो सिंह ने अपने विचार व्यक्त किए। चर्चित कवियित्री प्रज्ञा रावत का मुख्य कविता पाठ हुआ। पूर्व कविता पाठ मणिमोहन, मोहन नगर, श्रुति कुशवाहा और शैलेन्द्र शैली, दिनेश श्रीवास्तव ने किया। टिप्पणी गोविन्द देवलिया ने की। कार्यक्रम का संचालन मणि मोहन ने किया और आभार संयोजन ब्रज श्रीवास्तव ने माना।

नाट्य विद्यालय में फिल्म प्रशिक्षण

पिछले दिनों म.प्र. नाट्य विद्यालय के छात्रों के लिये फिल्म मेकिंग की कार्यशाला का आयोजन किया गया था। दस दिवसीय कार्यशाला के निदेशक थे अतुल तिवारी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली), जर्मन नेशनल थियेटर (वायमा), बर्लिनर असम्बल (बर्लिन) से सीखने पढ़ने के बाद से आप देश भर में नाटक लिखते-करते हुए फिल्मों के संसार में पहुंचे। दो दर्जन से ज्यादा फिल्में लिखने के साथ ही नाटक के अभ्यास और अधयान से भी जुड़े रहे हैं। दस दिनों में उन्होंने छात्रों को फिल्म निर्माण की समूची प्रक्रिया यथा- स्क्रिप्ट लेखन, कैमरा, वर्क, साउंड, रिकार्डिंग, साउण्ड इफैक्ट, फिल्म एडिटिंग, बैक ग्राउण्ड म्यूजिक, सेट/लोकेशन चुनाव/निर्माण, अभिनय आदि से परिचित कराया। इस दौरान छात्रों को चार समूहों में बांट कर, चार लघु फिल्मों का निर्माण भी किया गया। जिनका प्रदर्शन विद्यालय परिसर में किया गया।

नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय ने बताया कि पिछले साल से इस वर्कशाप की शुरुआत की गई। जब कलाकारों को रोजी रोटी के लिये फिल्मों/सीरियल में ही जाना है तो क्यूं न उन्हें मानसिक, व्यवहारिक व शैक्षणिक रूप से इस विधा में तैयार किया जाए। अतुल तिवारी ने नसीरउद्दीन शाह का उदाहरण देते हुए छात्रों को रंगमंच और फिल्मों के बीच संतुलन बनाए रखने की नसीहत भी दी।

फिल्म निर्माण की लंबी चौड़ी प्रक्रिया को समझने के लिए दस दिनों का समय बहुत ही कम है, लेकिन छात्रों द्वारा बनाई गई चारों फिल्मों को देखते हुए यह कमी बिल्कुल भी महसूस नहीं हुई। यह प्ले स्कूल के बच्चों से एक से दस तक गिनती पूछने जैसा सुखद अहसास था, जिसमें बच्चा चार के बाद पांच बोलते हुए अटक कर छह बोल जाता है। वेरी गुड, इसलिए ये सभी छात्र शाबाशी के हकदार हैं न कि आलोचना के। ग्रुप 'अ' द्वारा निर्मित फिल्म वाटर ने सबको प्रभावित किया। अगला विश्व युद्ध न गैस के लिए होगा न पेट्रोलियम के लिए वह होगा पानी के लिए, इस कथन को बिना किसी संवाद के सिर्फ फिल्मी जुबान मेंखूबसूरत तरीके से पेश किया गया। इसके लिए ग्रुप 'अ' को अतिरिक्त बधाई। अपने परिचयात्मक उद्बोधन में अतुल तिवारी ने बताया कि उन्होंने छात्रों के लिए बहुत सी लक्ष्मण रेखाएं खींच रखी थी, मसलन, फिल्म विद्यालय के कैंपस में ही बनेगी, कैमरा कैंपस के गेट के बाहर नहीं जायेगा, विद्यालय में उपलब्ध संसाधनों का ही उपयोग किया जायेगा। प्रॉपर्टीज के लिए संसाधन छात्रों को अपने खर्चे से जुटाने होंगे। इन बंधनों ने छात्रों के लिए स्पेस को भले ही सीमित कर दिया था किन्तु उनकी कल्पनाशीलता को विस्तार दे दिया। दरअसल रंगमंच का व्याकरण फिल्मों के व्याकरण से अलग है। नाटक में स्पेस का महत्व है तो फिल्म में फ्रेम का। नाटक में अभिनेता को दूर बैठे दर्शकों को ध्यान में रखते हुए थोड़े लाउड जैसचर व पोस्चर द्वारा अभिव्यक्त करना होता है जबकि फिल्म में उन्हें अंडर प्ले करते हुए बड़े मूवमेंट और फेस एक्सप्रेशन को नियंत्रित करना पड़ता है। यही बात डायलॉग डिलीवरी के समय स्वर नियंत्रण पर भी लागू होती है, मंच पर अभिनय करते हुए आवाज दूर तक पहुँचानी होती है, ताकि अंतिम पंक्ति में बैठे दर्शक को भी न केवल डायलॉग सुनाई दे बल्कि समझ में भी आए। जबकि फिल्म में अनावश्यक रूप रूप से जोर से बोले गए संवाद कानों में खटकते हैं जो अभिनेता इन दोनों माध्यमों की जरूरत के हिसाब से खुद के अभिनय को ढाल लेता है वहीं दोनों माध्यमों में सफल होता है। दूसरी बात नाटक की तैयारी करते हुए एक्टर इस पर ध्यान नहीं देता कि वो रोज ग्रो कर रहा है या नहीं, जबकि फिल्म का हर रीटेक उससे बेहतर शॉट की अपेक्षा करता है। एक्टर को यह जानने का भरपूर मौका देता है कि उसके अभिनय में क्या कमी रह गई और उसे कैसे अगले शॉट में दूर करना है। संजय उपाध्याय के अनुसार पिछले साल उन्होंने दर्शकों के मतों के आधार पर सबसे अच्छी फिल्म को पुरस्कृत किया जा रहा है।

अतुल तिवारी को साधुवाद, उन्होंने दस दिनों में गागर में सागर भर दी है। वैसे इस कार्यशाला को तीस दिनों की कर दी जाए तो बेहतर होगा। पहले पन्द्रह दिन सिर्फ स्क्रिप्ट पर काम और बाकी पन्द्रह दिनों में उसे साकार रूप देना, इसमें हर ग्रुप में एड वरिष्ठ स्क्रिप्ट राइटर को बतौर मार्गदर्शन रखा जा सकता है। - **मुकेश शर्मा**

एकता की जुबाँ बोलता है संगीत

वाराणसी में प्रसिद्ध संकटमोचन मंदिर में आयोजित संगीत समारोह में पाकिस्तानी गायक गुलाम अली और अन्य कलाकारों के साथ प्रस्तुति देने वाले सरोद वादक अमजद अली खान ने कहा कि संगीत को बाँटा नहीं जा सकता और यह सभी सीमाओं को एकता के सूत्र में पिरोता है। सुबह तक चले संगीत समारोह में सांस्कृतिक मिलन का अद्भुत नजारा नजर आया। अमजद अली खाँ ने कहा कि वे पिछले कई वर्षों से आयोजित हो रहे संकटमोचन मंदिर के इस वार्षिक संगीत उत्सव में प्रस्तुति देकर खुद को सौभाग्यशाली मानते हैं और भगवान हनुमान से आशीर्वाद माँगते हैं।

अपने पुत्रों अमान और अयान के साथ प्रस्तुति देने वाले अमजद अली खाँ ने कहा कि संगीत एक सार्वभौमिक भाषा है जो सभी सीमाओं और विश्वभर के लोगों को आपस में जोड़ती है। इसकी कोई जाति या मजहब नहीं है। भारत और पाकिस्तान के विभाजन के बावजूद हमारा संगीत अब भी विश्वभर में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय कहा जाता है। उस्ताद गुलाम अली ने कहा कि भगवान हनुमान का आशीर्वाद माँगना इनके लिए सम्मान की बात है। गुलाम अली इस समारोह में प्रस्तुति देने वाले पहले पाकिस्तानी कलाकार हैं। उन्होंने उम्मीद जताई कि संगीत समारोह भारत और पाकिस्तान के बीच दूरी को पाटने में मदद करेगा।

अमजद अली खाँ ने 'वैष्णव जन ते तेने कहिए' सहित भजन प्रस्तुतीकरण के साथ तान मिलाकर संगीत प्रेमियों को मंत्रमुग्ध कर दिया और अपनी प्रस्तुति 'गांधी राग' के साथ समाप्त की। उन्होंने कहा- हम यहाँ इस प्रसिद्ध मंदिर के प्रांगण में अपनी प्रस्तुति देने नहीं आते, बल्कि हम यहाँ भगवान हनुमान का आशीर्वाद माँगने आते हैं। उन्होंने कहा कि हर संगीतकार के जीवन में कम से कम एक बार इस पवित्र स्थल पर प्रस्तुति देने और भगवान हनुमान का आशीर्वाद लेने की इच्छा होती है। उन्होंने कहा कि सरहद भारत और पाकिस्तान को विभाजित करती हैं। लोग अलग हो गए हैं, लेकिन संगीत अलग नहीं हो सकता। यह हमेशा दोनों देशों के लोगों को फिर से एक करता रहा है। अमजद अली खाँ ने कहा कि भाषा कई बार बाधा उत्पन्न करती है, लेकिन 'स्वर' सभी सीमाओं से परे हमें हमेशा एक करता है। उस्ताद गुलाम अली ने 'दिल में एक लहर', 'चुपके चुपके रात दिन' और 'हंगामा है क्यों बरपा' जैसी अर्द्ध शास्त्रीय गजलें भी प्रस्तुत कीं।

वाराणसी निर्वाचन क्षेत्र से लोकसभा सांसद प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने कार्यक्रम में शामिल नहीं हो पाने पर यह कहकर खेद जताया था कि वे अपने व्यस्त कार्यक्रम की वजह से आयोजन में शामिल होने में असमर्थ हैं और साथ ही कहा कि इस उत्सव में शामिल होकर वे खुद को सौभाग्यशाली समझते। मोदी ने ट्वीट कर कहा था- मैं भविष्य में इस तरह के कार्यक्रमों में शामिल होने की इच्छा व्यक्त करता हूँ।

'विवेचना' का 'रंग परसाई'

मिश्रित रंग अनुभवों के पाँच दिन

विवेचना रंगमंडल और एमपी पावर मैनेजमेंट कंपनी लिमिटेड की केन्द्रीय क्रीड़ा एवं कला परिषद् के संयुक्त तत्वावधान में पिछले दिनों जबलपुर में प्रसिद्ध व्यंग्यकार हरिशंकर परसाई स्मृति में रंग परसाई-2015 विवेचना रंगमंडल राष्ट्रीय नाट्य समारोह आयोजित किया गया। विवेचना रंगमंडल जबलपुर में रंगकर्म क्षेत्र में सातवें दशक से सक्रिय है। इसके साथ ही विवेचना रंगमंडल 22 वर्षों से राष्ट्रीय नाट्य समारोह को निरंतरता के साथ आयोजित कर रही है। विवेचना रंगमंडल पिछले छह वर्षों से रंगकर्म में उल्लेखनीय योगदान देने के लिए रंग परसाई सम्मान भी दे रही है। इस बार नादिरा बब्बर को रंग परसाई सम्मान से विभूषित किया गया। उन्हें इस सम्मान के अंतर्गत 21,000 रुपए की सम्मान राशि प्रदत्त की गई। नाट्य समारोह की विशेषता मुस्लिम पृष्ठभूमि पर आधारित दो नाट्य प्रस्तुतियाँ रहीं। इसमें एक हास्य और दूसरी गंभीर प्रस्तुति थी।

समारोह में दुलारी बाई, मान गए दूल्हा भाई, रेंगती परछाईयां, कमबख्त इश्क और संध्या छाया नाटकों का मंचन हुआ। पहले दिन मणि मधुकर के 'दुलारी बाई' को प्रस्तुत किया। विवेचना रंगमंडल पिछले वर्ष से अपने ही मंचित पुराने नाटकों को नए कलाकारों के साथ पुनः मंचित कर रही है। गौरतलब है कि देश में विवेचना (अरुण पाण्डेय) और दिल्ली में अरविंद गौड़ की अस्मिता से लगभग सौ-डेढ़ सौ रंगकर्मी संबद्ध हैं। समारोह में विवेचना ने नवीन चौबे के निर्देशन में दुलारी बाई को प्रस्तुत किया। निर्देशक अरुण पाण्डेय का कहना है कि हमारा प्रयास है कि आज के नवोदित कलाकार पुराने नाटकों की विषयवस्तु को समझें और उन्हें समकालीन संदर्भ के साथ प्रस्तुत किया जाए। यह प्रस्तुति लोक व आधुनिक नाट्य शैलियों के प्रयोग और दुलारी बाई के रूप में अलंकृति श्रीवास्तव के अभिनय के कारण नाट्य दर्शकों को आकर्षित करने में सफल हुआ। पात्रों को बदल-बदल कर मंचित किए गए इस लोक नाटक में दर्शक बनाने वाले सभी तत्व मौजूद हैं।

दूसरे दिन भोपाल की अदाकार ने 'मान गए दूल्हा भाई' की प्रस्तुति दी। अदाकार और इसके निर्देशक फरुख शेर खान की इससे पूर्व के नाट्य समारोह में ''खाला कमाल की'' प्रस्तुति से खासी वाह-वाही लूटी थी, लेकिन मान गए दूल्हा भाई की प्रस्तुति ने दर्शकों को खासा निराश किया। ''खाला कमाल की'' हल्के फुल्के हास्य, नाटक के अंत में भावुकता और कलाकारों के उत्कृष्ट अभिनय के कारण आकर्षित करने में सफल हुआ था। कुछ इसी लीक पर अदाकार ने रफी शब्बीर और फर्रुख शेर खान ने मान गए दुल्हा भाई की डिजाइनिंग की, लेकिन प्रस्तुति के अंत तक आते-आते दर्शकों को बोरियत होने लगती है।

तीसरे दिन समारोह की सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति कोलकाता की लिटिल थेस्पियन की रही। लिटिल थेस्पियन ने 'रेंगती परछाईयाँ' के माध्यम से दर्शकों को झकझोर दिया। उमा झुनझुनवाला लिखित और

स्वाती, सगोरिया, जैदी और रियाज़ सम्मानित

साठोत्तरी हिन्दी कविता के यशस्वी कवि जनार्दन शर्मा की पुण्यतिथि पर हर वर्ष होने वाली पुण्य स्मरण संध्या का आयोजन इस वर्ष भी जनवरी में हुआ। इस पुण्य स्मरण संध्या में साहित्यिक पुस्तकों की अग्रणी प्रकाशन संस्था शिवना प्रकाशन द्वारा चार सम्मान प्रदान किए गए। सीहोर पत्रकारिता की पहचान रहे स्व. बाबा अम्बादत्त भारतीय की स्मृति में स्थापित शिवना सम्मान जो पत्रकारिता अथवा शोध पुस्तक हेतु प्रदान किया जाता है, वह साहित्यकार स्वाति तिवारी को उनकी सामयिक प्रकाशन से प्रकाशित भोपाल गैस कांड पर लिखी गई बहुचर्चित पुस्तक 'सवाल आज भी जिंदा है' हेतु प्रदान किया गया। पैंतीसवाँ जनार्दन शर्मा प्रतिष्ठित कवि मोहन सगोरिया को साखी प्रकाशन से प्रकाशित उनकी कविता पुस्तक 'दिन में मोमबत्तियाँ' हेतु दिया गया। गीतकार स्व. रमेश हठीला की स्मृति में दिया जाने वाला शिवना सम्मान वरिष्ठ शायरा इस्मत जैदी को दिया गया। गीतकार मोहन राय की स्मृति में दिया जाने वाला शिवना सम्मान सीहोर के ही वरिष्ठ शायर रियाज मोहम्मद रियाज को भेंट किया गया।

मोटूरि पुरस्कार सुधा को

2014 का पद्मभूषण डॉ. मोटूरि सत्यनारायण पुरस्कार डॉ. सुधा ओम ढींगरा को दिया जाएगा, इसकी घोषणा भारतीय प्रेस क्लब, नई दिल्ली में केन्द्रीय हिन्दी शिक्षण मंडल के उपाध्यक्ष डॉ. कमल किशोर गोयनका की अध्यक्षता में संस्थान के निदेशक प्रो. मोहन द्वारा की गई है। पुरस्कृत विद्वानों को संस्थान की ओर से एक लाख रुपए, शॉल तथा प्रशस्ति-पत्र, भारत के राष्ट्रपति के हाथों प्रदान कर सम्मानित किया जाता है। यह सम्मान विदेशों में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उल्लेखनीय कार्य करने हेतु दिया जाता है। डॉ. सुधा ओम ढींगरा कैनेडा से प्रकाशित होने वाली हिन्दी की महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका 'हिन्दी चेतना' की संपादक हैं। ढींगरा के अभी तक चार कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

अजहर आलम द्वारा निर्देशित यह प्रस्तुति विषयवस्तु, कलाकारों के संवेदनशील अभिनय और उत्कृष्ट निर्देशन के कारण लम्बे समय तक याद रखा जाएगा। रेंगती परछाईयाँ एक मुस्लिम विधवा नादिरा और उसकी तीन अविवाहित बेटियों की कहानी है। अपने समग्र प्रभाव के कारण दर्शकों के मन में अमिट छाप छोड़ने में पूरी तरह सफल रहा। लेखिका उमा झुनझुनवाला लेखक के रूप में तो सफल हैं ही वे नादिरा के रूप में भी पूरे नाटक में छाई रहीं। निदेशक अजहर आलम ने नाजुक विषय को पूरी सावधानी से प्रस्तुत किया।

समारोह के चौथे दिन नट सम्राट नई दिल्ली ने कमबख्त इश्क प्रस्तुत किया। श्याम कुमार निर्देशित यह प्रस्तुति भी अत्यंत कमजोर और निराश करने वाली रही। हास्य के नाम फूहड़ प्रस्तुति ने दर्शकों को कसमसा दिया। नाटक के पहले दर्शकों को यह संदेश दिया गया था कि वे हँस-हँस कर कुर्सी तोड़ देंगे, लेकिन दर्शक किसी तरह नाटक को खत्म होने का इंतजार कर रहे थे। नाट्य समारोह की अंतिम प्रस्तुति एकजुट मुंबई की 'संध्या छाया' रही। मराठी के लेखक जयंत दलवी लिखित और नादिरा बब्बर द्वारा निर्देशित यह नाट्य प्रस्तुति जबलपुर में इससे पूर्व दो बार मंचित हो चुकी है। एकजुट और नादिरा बब्बर के नाम की बदौलत इस प्रस्तुति में प्रेक्षागृह में दर्शकों की भीड़ उमड़ी। समय के साथ नादिरा ने जयंत दलवी की मूल कथा में काफी परिवर्तन किए हैं। संध्या छाया में अब पहले जैसा प्रभाव नहीं रह गया। नादिरा अब थकी दिखने लगी हैं। वहीं शेख शमी उस्मान अभी भी नाना की भूमिका में पूर्व वाली प्रस्तुतियों का प्रभाव छोड़ रहे हैं।

रंग परसाई 2015 दो कारणों से याद रखा जाएगा। पहला तो नादिरा बब्बर को रंग सम्मान देने के कारण और दूसरा 'रेंगती परछाईयाँ' की प्रभावी प्रस्तुति के लिए। **-पंकज स्वामी**

शब्द ब्रह्म के साधक सदैव अभिनंदनीय

अगर देश की संस्कृति से रूबरू होना है तो हमें गांव में जाना होगा क्योंकि भारत गांवों में बसता है। महानगरों की संस्कृति में तो इंडिया होता है। निमाड़ में सनातन संस्कृति की छटा है। उक्त बात निमाड़ लोक संस्कृति न्यास खंडवा द्वारा पद्मश्री स्व. रामनारायण उपाध्याय की स्मृति में आयोजित प्रतिष्ठा आयोजन गणगौर एवं सिंगाजी सम्मान समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रसिद्ध समाज सेविका पद्मश्री डॉ. जनक पलटा मगिलिगन सनावदिया इंदौर ने कही। मगिलिगन ने कहा कि बोली को मातृ बोली कहा गया है। पितृ बोली नहीं क्योंकि व्यक्ति का सारस्वत विकास अपनी जननी के माध्यम से ही संभव होता है। साहित्यकार सदाशिव कौतुक ने कहा कि शब्द ब्रह्म होता है और लेखक साहित्यकार शब्द साधक है। शब्द की भूमिका हर जगह है, दुनिया शब्दों का परिवार है।

वरिष्ठ छायाकार एवं कहानीकार बंशीलाल परमार ने भी संबोधित किया। अतिथि परिचय न्यास के अध्यक्ष शिशिर उपाध्याय ने दिया। संस्था परिचय सचिव हेमंत उपाध्याय ने दिया। स्वागत गीत विजयलक्ष्मी दीक्षित ने प्रस्तुत किया। कार्यक्रम में बधाई, गणगौर आदि निमाड़ी गीतों की प्रस्तुति पूर्णिमा चतुर्वेदी भोपाल, शालिनी बड़ोले मुम्बई एवं मनीषा शास्त्री महेश्वर ने दी। वयोवृद्ध सुभद्रा उपाध्याय ने भी 'अच्छा लोग नऽ की अच्छी बात' कविता सुनाई। कार्यक्रम में बड़वाह के गीतकार शिशिर उपाध्याय की प्रथम निमाड़ी पोथी 'जवं सी तू गयोज गाँव सी' का लोकार्पण अतिथियों द्वारा किया गया। इस अवसर पर इंदौर की साहित्यिक संस्था हिन्दी परिवार द्वारा श्री उपाध्याय का शाल श्रीफल से सम्मान किया। पुस्तक की समीक्षा सुप्रसिद्ध मालवी कवि एवं

महेश्वर में आयोजित एक समारोह में निमाड़ लोक संस्कृति न्यास (खंडवा) की ओर से विभिन्न विधाओं में उल्लेखनीय सृजन के लिये वरिष्ठ और युवा रचनाकारों को विभिन्न सम्मानों से अलंकृत किया गया।

समीक्षक डॉ. राजेश रावल सुशील ने पढ़ी। इसके पूर्व बोली और भाषा के नौ रत्नों को निमाड़ अंचल के प्रतिष्ठित सम्मान गणगौर एवं सिंगाजी सम्मान से अभिनंदित किया गया। जिसमें उत्कृष्ट सृजन कर निमाड़ की लोक सम्पदा को बढ़ाने के लिए प्रदत्त गणगौर सम्मान 2007 से 2015 की श्रृंखला में पं. दिनकर राव दुबे 'दिनेश' बड़वाह, पं. विष्णु प्रसाद राजा बाबू डोंगरे करही, सहदेव सिंह इनामदार 'मलय' गोगांवा, मणिमोहन चवरे 'निमाड़ी' खंडवा, सुरेश कुशवाहा 'तन्मय' जबलपुर, कु. उदयसिंह 'अनुज' मंडलोई धरगांव, डॉ. पार्वती व्यास 'प्रीति' खरगोन, गोविंद सेन मनावर, हरीश दुबे महेश्वर को नवाजा गया। वहीं हिन्दी में उत्कृष्ट सृजन कर निमाड़ अंचल को गौरवान्वित करने वाले साहित्यकारों एवं कलाधर्मियों को दिए गए सिंगाजी सम्मान 2007 से 2015 से लिए अशोक गीते, डॉ. सैयद सफ़दर रजा 'खंडवी', कैलाश मंडलेकर, बैजनाथ सराफ 'बैजू भाई', गोविंद कुमार 'गुंजन', डॉ. प्रतापराव कदम सभी खंडवा, शिखरचंद छाजेड़ करही, इस्माइल 'लहरी' इंदौर, डॉ. पुष्पा पटेल खरगोन को सम्मानित किया गया। कार्यक्रम का संचालन राकेश राणा ने किया। आभार जयश्री उपाध्याय ने माना।

श्रीकांत जोशी स्मरण संध्या

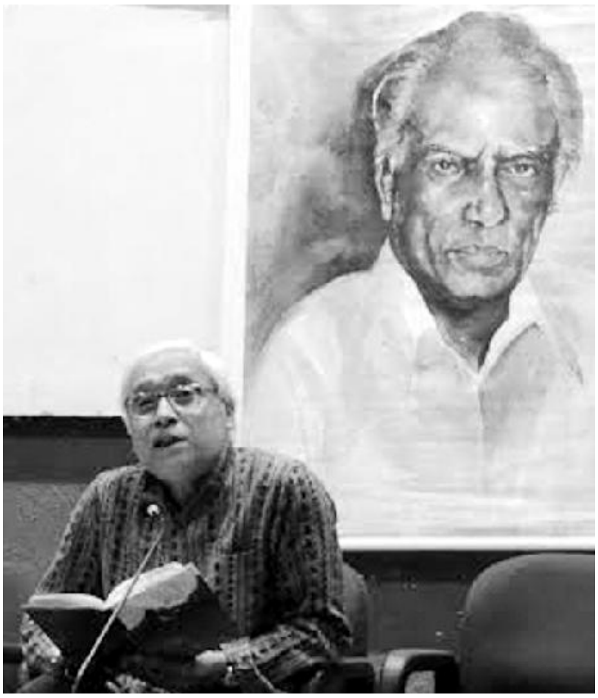

हिन्दी के ख्यात कवि, गीतकार एवं कुशल संपादक स्वर्गीय श्रीकांत जोशी की स्मृति में इंदौर में प्रतिवर्ष आयोजित होने वाले साहित्यिक समारोह में इस बार भोपाल से पधारे हिन्दी कवि एवं गद्यकार ध्रुव शुक्ल अपनी कविताओं से श्रोता समुदाय को नए अनुभव के संसार में ले गये।

कविता पाठ से पूर्व शुक्ल ने श्रीकांत जी के साहित्यिक अवदान पर अपने विचार रखते हुए कहा कि श्रीकांत जी उन कवियों में से हैं, जिनका दुर्भाग्य से सम्यक मूल्यांकन नहीं हुआ है, जबकि एक कवि, रचनाकार और संपादक के रूप में हिन्दी संसार में उनका योगदान महत्वपूर्ण है। उन्होंने हमारी परंपरा और आधुनिकता के संश्लेषण से एक ऐसा काव्य-विवेक पैदा किया, जो जनोन्मुखी है और वंचितों के हक की बात करता है। श्रीकांत जी उन थोड़े-से कवियों में से थे जिनमें गीति-संवेदना थी और जो श्रोताओं से रू-ब-रू होने पर कविता-विमुख लोगों को कविता के आँगन में खींच लाने में समर्थ होती थी। उन्होंने श्रीकांत जी के कविता-संग्रहों की कुछ कविताओं का उल्लेख भी किया। शुक्ल ने प्रकृति, परिवार, गाँव, स्थानीयता, समय तथा राजनैतिक चेतना की कविताएँ सुनाईं। शुक्ल जी ने 'स्थान देवता', 'लोकतंत्र की नाव और लोकतंत्र की नदी', 'हम आपके हैं कौन', 'मन की संसद', 'रक्तबीज', 'न्याय होता नहीं', 'लड़ने के काबिल बनो', 'महाजन यह पथ हमारा नहीं', 'हारे हुए विजेता' आदि कविताओं का पाठ किया, जिन्हें श्रोताओं ने सराहा।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी के भतीजे प्रमोद चतुर्वेदी (खण्डवा) ने शुक्ल को स्मृति चिह्न भेंट किया। इस अवसर पर बड़ी संख्या में साहित्यकार, श्रीकांत जोशी जी के परिचय तथा आमंत्रित श्रोता उपस्थित थे। श्रीकांतजी के बेटे आशुतोष जोशी ने आभार माना।

चेतना की आज़ादी महत्वपूर्ण

पत्रकार पुरस्कृत

समाज के लिए राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है। परन्तु सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण चेतना की स्वतंत्रता होती है। इस स्वतंत्रता के संदर्भ में पत्रकारिता की भूमिका अहम है। यह टिप्पणी मध्यप्रदेश के गृह मंत्री बाबूलाल गौर ने सप्रे संग्रहालय भोपाल के पत्रकारिता पुरस्कार अलंकरण समारोह को संबोधित करते हुए की। गौर ने प्रदेश के ग्यारह पत्रकारों को सम्मान स्वरूप प्रशस्ति-पत्र, शाल एवं कलम भेंट किए। समारोह की अध्यक्षता अनन्य हिन्दी सेवी श्री कैलाशचंद्र पंत ने की।

संपादक एवं पूर्व कुलपति अच्युतानंद मिश्र ने 'स्वामी श्रद्धानंद और उनका पत्रकार कुल ग्रंथ का विमोचन किया। विद्वान आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राजेश ने इस पुस्तक में हिन्दी पत्रकारिता में गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों के यशस्वी अवदान का प्रामाणिक वृत्तांत लिपिबद्ध किया है। मनीषी संपादक नारायण दत्त की प्रेरणा से पुस्तक का प्रकाशन नई दिल्ली के प्रभात प्रकाशन ने किया है। कैलाशचंद्र पंत ने कहा कि भारतीय संस्कृति और परंपरा में चेतना की स्वतंत्रता पर निरंतर जोर दिया जाता रहा है। गुरुकुलों से विद्यार्थियों को इसके संस्कार मिलते थे। स्वामी श्रद्धानंद और उनका पत्रकार कुल पुस्तक के प्रेरणास्रोत नारायण दत्त जी इस परंपरा के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उसकी निरंतरता का स्रोत शुष्क नहीं पड़ा है।

आरम्भ में सप्रे संग्रहालय के संस्थापक विजयदत्त श्रीधर ने पुरस्कार योजना और ग्रंथ की प्रस्तावना प्रस्तुत की। निदेशक डॉ. मंगला अनुजा ने प्रशस्ति वाचन किया। नूरुल हसन नूर ने अतिथियों का स्वागत किया। कार्यक्रम का सुरुचिपूर्ण संचालन शोध छात्रा लावण्यमयी शर्मा ने किया।

वर्ष 2015 के लिए 'संतोष कुमार शुक्ल स्मृति लोक संप्रेषण पुरस्कार' जनसंपर्क विभाग के अपर सचिव अनिल माथुर, वेटेरन जर्नलिस्ट फेडरेशन द्वारा प्रवर्तित 'हुक्मचंद नारद पुरस्कार' युगेश शर्मा, 'लाल बलदेवसिंह पुरस्कार दैनिक हरिभूमि के संपादक डॉ. संतोष मानव तथा 'माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार' दैनिक पीपुल्स समाचार के संपादक

डॉ. राजीव अग्निहोत्री को प्रदान किया गया। 'जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी पुरस्कार' दैनिक भास्कर जबलपुर के समाचार संपादक डॉ. पंकज शुक्ल, 'राजेन्द्र नूतन पुरस्कार' पत्रिका के विशे संवाददाता शिरीष खरे, 'झाबरमल्ल शर्मा पुरस्कार' दैनिक भास्कर के कार्टूनिस्ट हरिओम तिवारी, 'रामेश्वर गुरु पुरस्कार' एल.एन. स्टार की विशेष संवाददाता शिफाली, 'आरोग्य सुधा पुरस्कार' प्रदेश टुडे के प्रशासनिक संवाददाता पंकज शुक्ल, 'यशवंत अरगरे पुरस्कार' नवदुनिया की संवाददाता रुचि दीक्षित और फोटो पत्रकारिता के लिये 'होमई व्यारावाला पुरस्कार' नवदुनिया के प्रवीण दीक्षित को प्रदान किया गया।

'पूनम' में जसराज

आकाश के माथे पर खिला शुक्ल पक्ष का चांद। झील की सतह पर मचलती पानीदार लहरें और चांदनी से गुफ्तगू करती श्यामला पहाड़ी का दिलकश नजारा तब और हसीन हो उठा जब संगीत के रसराज पंडित जसराज ने अपनी कंठ माधुरी का रस छलकाया।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय के आवृत्ति मुक्ताकाश परिसर में चैत्र की पूनम का उजियारा फैला था। जीवन व्यापी साधना में रमे सुरों की आभा लिए भक्ति की अलख जगाने मंच पर नमूदार थी एक महान विभूति। भोपाल के संगीत रसिकों के लिए यकीनन यह एक नायाब मौका था और अपनी तबीयत के मुताबिक मौसिकी के मुरीदों ने देर तक सात सुरों से झलकते सद्भाव और समरसता के सौगात को आत्मसात किया। अपनी गुरुभूमि (भोपाल) पर पं. जसराज की आमद और शिरकत हमेशा ही एक अलौकिक अनुभव होती है। उम्र का आंकड़ा भले ही पिच्चासी के आसपास छू रहा हो और देह की ऊर्जा सिमटने लगी हो लेकिन पूनम की इस सभा में राग जोग में निबद्ध 'हनुमान लला' के महिमा गान से बढ़त लेते हुए तराना, मांड की खुश्बू से महकती कृष्ण छवियां और 'ओम नमो भगवते वासुदेवाय' तक जिस गहरी तल्लीनता और समर्पण को पंडित जी ने जिया, वह उनकी संचित

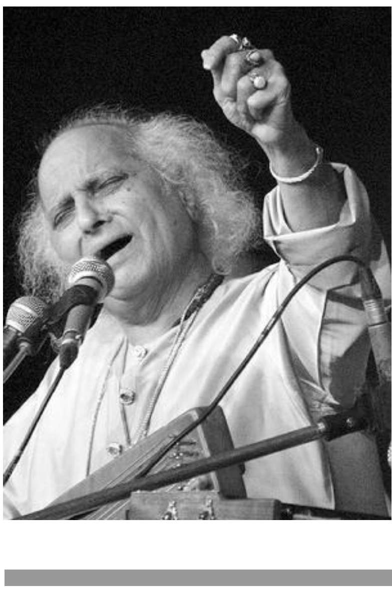

शक्ति का ही प्रमाण था। तीनों सप्तकों को छूता जीवन रस ही पं. जसराज की उपलब्धि है जिसके सम्मोहन से आज भी हर दर्जे का श्रोता बंधा हुआ है। पंडितजी ने पूनम की इस सभा में ख्याल गायिकी का पक्का रंग तो नहीं बिखेरा लेकिन भक्ति की आध्यात्मिक अनुरूपों को जिस उदात्त भाव से उन्होंने चरम तक पहुंचाया यकीनन उसे श्रोता मुद्दतों याद रखेंगे। तीन ताल पर आधारित बंदिश की प्रस्तुति के दौरान मृदंग और तबले की जुगलबंदी ने श्रोताओं का ध्यान खींचा। सोलह मात्राओं के छोटे-छोटे अंतरालों के साथ तबला वादक ओजस अडिया और मृदंग वादक पार्थसारथी ने फनकारी और रियाज का कमाल दिखाया। पंडितजी ने भोपाल से फिर आने का वादा कर प्रस्तुति को विराम दिया। सभा संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया।

'सरल' के सुयश का अभिनंदन

प्रतिष्ठित पत्रकार, कथाकार एवं कला समीक्षक मनमोहन सरल का 80वां जन्मदिन मुम्बई के साहित्य तथा पत्रकारिता जगत के तमाम वरिष्ठ और कनिष्ठ साथियों ने एक अविस्मरणीय आयोजन के रूप में मनाया। लगभग तीन दक तक 'धर्मयुग' के वरिष्ठ सहायक सम्पादक के पद पर रहे श्री सरल के अमृत अभिनन्दन के बहाने धर्मयुग' तथा उसके गरिमामय समय और सम्पादक-साहित्यकार डॉ. धर्मवीर भारती को स्मरण किया जाना स्वाभाविक था। इसी कारण 'धर्मयुग' से सम्बद्ध लेखक, पत्रकार और चित्रकार इस आयोजन में सहभागी बने।

स्व. भारती की धर्मपत्नी पुष्पा भारती तो विशेष रूप से उपस्थित थीं ही, पद्मा सचदेव, प्रख्यात साहित्यकार सुधा आरोड़ा, कथा एवं व्यंग्यकार डॉ. सूर्यबाला, डॉ. अचला नागर, मूर्धन्य पत्रकार नंदकिशोर नौटियाल, कवि-पत्रकार विश्नाथ सचदेव, कवि-समीक्षक डॉ. विजयकुमार, कवि डॉ. बोधिसत्व, कथाकार सूरजप्रकाश एवं मधु अरोड़ा, कथाकार संतोष श्रीवास्तव, चित्रकार चरन शर्मा, जैसे सभी श्री सरल के स्नेही इस आयोजन में शामिल हुए। देहरादून से विशेष रूप से आये थे कवि बुद्धिनाथ मिश्र। सबसे महत्वपूर्ण रही इंदौर से खास तौर पर आये प्रख्यात कथाकार, बहुप्रशंसित चित्रकार प्रभु जोशी की उपस्थिति जो श्री मनमोहन सरल की आदमकद चित्र बना कर साथ लाये, जिसका अनावरण पुष्पा भारती ने किया। 'धर्मयुग' में नियमित लिखने वाले फीरोज अशरफ भी मौजूद रहे।

मनमोहन सरल टाइम्स से अवकाश प्राप्त करने के बाद मुम्बई विश्वविद्यालय के पत्रकारिता विभाग में मानद व्याख्याता भी हैं। अतः उनके कई वर्तमान और पूर्व छात्र भी आयोजन में शामिल हुए। कुल मिलाकर यह आत्मीयता से छलछलाता एक ऐसा समागम था जिसमें एक समर्पित कलमकार की जीवन छवियों को उसी के सहकर्मी-स्वजनों की स्मृतियों में देखने का अनोखा अनुभव था।

प्रभु जोशी ने 'धर्मयुग' को सांस्कृतिक पत्रकारिता का प्रतिमान कहा तो सरल जी इसी सांस्कृतिक पत्रकारिता की अन्यतम विभूति रहे हैं। सबका मानना था कि जैसे भारती जी और 'धर्मयुग' अविभाज्य हैं, सरल जी और 'धर्मयुग' भी अविभाज्य हैं। कार्यक्रम का मुख्य आकर्षण रहा पुष्पा भारती द्वारा भारती जी की बहुचर्चित कृति 'कनुप्रिया' के कुछ अंशों का पाठ तथा कवि बुद्धिनाथ मिश्र द्वारा 'धर्मयुग' में छपे अपने प्रथम गीत की सस्वर प्रस्तुति। गौरतलब यह कि मनमोहन सरल आज भी अपनी लेखनी के जरिये सक्रियता बनाये हुये हैं। उनकी गतिशीलता नवोदित पत्रकारों के लिये प्रेरक पाठ की तरह है।

नौनिहालों का 'स्वप्नयान'

रंगमंच पर अपनी रचनाधर्मी उपस्थिति और प्रयोगों के लिए चर्चित भोपाल के कला समूह 'विहान' की बाल सृजन इकाई 'स्वप्नयान' के अंतर्गत अब रविवार बच्चों के लिए 'स्पेशल संडे क्लासेस' शुरू की गई हैं। मकसद बच्चों में छुपी हुई प्रतिभा को विकसित करना तथा उनके हुनर को तराशना है।

इन खास कक्षाओं में संगीत, थिएटर, लेखन, चित्रकला, स्कल्पचर, नृत्य आदि के अलावा बॉडी मूवमेंट, स्पीच, परसनालिटी डेवलपमेंट जैसी कई विधाओं पर लेक्चर, वर्कशॉप, वन ऑन वन डिस्कशन, प्रेसेंटेशन, फिल्म, गेस्ट फेकल्टी और बच्चों के लिए तैयार किए गए स्पेशल कंटेन्ट के जरिये उनकी कलात्मकता और रचनाधर्मिता को विकसित करने पर जोर दिया जा रहा है। 'स्वप्नयान' के निदेशक हेमंत देवलेकर ने बताया कि 'विहान' के द्वारा पिछली कार्यशालाओं में बच्चों का जबरदस्त उत्साह देखने को मिला साथ ही उनमें कलाओं के प्रति अद्‌भुत ऊर्जा है। 'विहान' के संस्थापक, सौरभ अनंत और सुदीप सोहनी ने बताया कि 'विहान' की स्थापना से ही हमारा आग्रह सभी कलाओं को साथ लेकर उन मीडियम्स में काम करना रहा है। इसलिए हमने पाठ्‌यक्रम की तर्ज पर बच्चों के लिए विभिन्न कलाओं की 'संडे स्पेशल क्लासेस' का आयोजन किया है। इसमें प्रवेश की पात्रता 18 वर्ष या उससे कम की होगी।

भोजपुरी महक से तारी भारतीय सिनेमा

हिन्दी सिनेमा के ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ जब हम इसको गीत और संगीत के इतिहास का गहराई से विश्लेषण करते हैं, तो बहुत कुछ लोक संगीत एवं गीत की ओर झुका हुआ दिखाई देता है। शुरुआती समय से ही भोजपुरी लोक संगीत का प्रभाव हिन्दी सिनेमा की गीत और संगीत पर दिखाई देने लगा था। यह प्रभाव 80 के दशक के बाद कम जरूर हुआ, पर इसके बावजूद संगीतकारों ने इसके उपयोग से परहेज नहीं किया और जब-जब जरूरत पड़ी, तब-तब भोजपुरी लोक संगीत का बेहतर तरीके से उपयोग किया गया।

यह तथ्य भोपाल में आयोजित एक व्याख्यान में फिल्म संगीत इतिहास के ज्ञाता ('धुनों की यात्रा' के लेखक), कहानीकार एवं वरिष्ठ आइ.ए.एस. पंकज राग ने प्रस्तुत किये। मध्यप्रदेश भोजपुरी साहित्य अकादमी ने 'भोजपुरी लोक संगीत' प्रस्तावना रखते हुए मध्यप्रदेश भोजपुरी साहित्य अकादमी के निदेशक नवल शुक्ल ने कहा कि अलग-अलग जगहों पर पलायन के साथ-साथ भोजपुरी भाषी क्षेत्र के मजदूर अपने साथ भोजपुरी लोक संगीत को भी ले गए।

राग ने कहा कि 1980 के पहले हिन्दी सिनेमा में भोजपुरी लोक संगीत का बहुत ज्यादा प्रयोग किया गया है। यह प्रयोग 1930 के दशक से ही दिखाई देने लगा था। हिन्दी फिल्मों की ग्रामीण पृष्ठभूमि एवं विषय ने भोजपुरी लोक संगीत को हिन्दी फिल्मों में स्थापित किया। हिन्दी फिल्मों में संगीतकार अनिल विश्वास ने शुरुआती दिनों में भोजपुरी संगीत का ज्यादा प्रयोग किया। 1935 में बनी 'धरम की देवी' में 'मालिनिया अब लाओ माला', 1936 में बनी 'पिया की जोगन' में 'मायका अब कुछ वात नाही'', 1936 की ही 'शेर का पंजा' में 'तोहरी फुलवरिया मैं ना जइहो रे' से लेकर 'ज्वार भाटा' (सरसो पीली, धान सुनहले, साजन मोरा सांवरिया हो) एवं 'छोटी-छोटी बातें' (मोरी बाली रे उमरिया) जैसी फिल्मों के संगीत में यह साफ दिखाई पड़ता है। 1940 से पहले हिन्दी फिल्मों का केन्द्र कलकत्ता था। वहाँ बड़ी संख्या में भोजपुरी क्षेत्र के मजदूर गए थे। वे वहाँ भोजपुरी लोक संगीत का उपयोग अपने मनोरंजन के लिए करते थे, जिसे सुनकर कई संगीतकारों ने उनका उपयोग हिन्दी फिल्मों में किया। 1940 के बाद मुंबई (तब बंबई) पूरी तरह से हिन्दी सिनेमा का केन्द्र बन गया। यहाँ जिन-जिन क्षेत्रों से संगीतकार, गीतकार, पटकथा लेखक आए थे, वे अपने साथ क्षेत्रीय एवं लोक संगीत को भी लेकर आए थे। नौशाद, पंडित

रविशंकर, चित्रगुप्त, एस.एन. त्रिपाठी जैसे संगीतकारों ने भोजपुरी लोक संगीत का बहुत उपयोग किया। 1940 के बाद के दो दशक तक हिन्दी सिनेमा पर भोजपुरी लोक संगीत हावी रहा। नीचा नगर, धरती के लाल, गोदान, बैजू बावरा, मदर इंडिया, नया दौर आदि कई फिल्मों के संगीत में भोजपुरी लोक संगीत साफ दिखाई पड़ता है। संगीतकार एवं गीतकार हिन्दी सिनेमा में भोजपुरी लोक संगीत के नोट्स, धुन या फिर उसे हुबहू उपयोग करते थे। चैती, कजरी के साथ प्रयोग भी देखने को मिलता है। इनमें से अधिकांश फिल्मों में जन चेतना से जुड़ी हुई गीत थीं। जन चेतना से जुड़ी गीतों की जगह हिन्दी फिल्मों में कम होने के साथ ही भोजपुरी लोक संगीत का उपयोग भी कम हुआ, पर इसकी जगह उत्साह एवं विरह से जुड़े संगीत का उपयोग होता रहा। इसके बावजूद सलील चौधरी, एस.डी. बर्मन, आर.डी. बर्मन कल्याणजी आनंदजी, रवीन्द्र जैन, राजकमल ने भी थोड़ा कम पर भोजपुरी लोक संगीत का उपयोग किया। शुरुआती भोजपुरी फिल्मों- गंगा मैया तोहे पियरी चढ़इबो, लागे नहीं छूटे रामा, भौजी आदि में हिन्दी के शीर्षस्थ पार्श्व गायकों ने पनी आवाज दी। चित्रगुप्त ने भौजी फिल्म की गीत ‘ए चंदा मामा, आरे आव, पारे आव, नदिया किनारे आव’ में बहुत ही सुंदर संगीत दिया। इन कारणों से हिन्दी सिनेमा और भोजपुरी सिनेमा के बीच परस्पर संबंध बने, पर बाद में भोजपुरी फिल्मों का स्तर पहले जैसे नहीं रहा पाया।

श्री राग ने अपन व्याख्यान के बीच-बीच में भोजपुरी लोक संगीत पर आधारित फिल्मी गीतों की रिकार्डिंग को भी उदाहरण देते हुए सुनाया। कार्यक्रम का समापन ‘गैंग ऑफ वासेपुर’ के ‘तार बिजली से पतरे हमारे पिया’ गीत से किया गया, जिसके बोल लंबे समय तक श्रोता गुनगुनाते रहे। **-राजू कुमार**

डोंगरगढ़ में ‘इप्टा’ का नाट्य समारोह

छत्तीसगढ़ की धर्मनगरी के नाम से ख्यात डोंगरगढ़ में यहां की सक्रिय संस्था ‘विकल्प’ द्वारा इप्टा व संस्कृति मंत्रालय भारत सरकार नई दिल्ली के सहयोग से 10वें राष्ट्रीय नाट्य समारोह का आयोजन बमलेश्वरी देवी मंदिर परिसर में किया गया। शुरुआत 06 फरवरी को भगतसिंह चौक में अनुकृति रंगमंडल कानपुर के कलाकारों द्वारा मंचित नुक्कड़ नाटक दस दिन का अनशन के साथ हुई। हरिशंकर परसाई की कहानी पर आधारित एवं सुमन कुमार द्वारा नाट्य रुपांतरित नाटक था।

समारोह का उद्घाटन लखनऊ इप्टा से आये वरिष्ठ रंगकर्मी राकेश व जुगुल किशोर ने किया। शुरुआत डोंगरगढ़ इप्टा के कलाकारों द्वारा प्रस्तुत जनगीतों से हुई, इसके बाद अनुकृति कानपुर के कलाकारों ने प्रसिद्ध लेखक सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के चर्चित नाटक बकरी का मंचन किया। उत्तर प्रदेश की लोक नाट्य शैली नौटंकी पर आधारित था यह नाटक। नाटक का निर्देशन ओमेन्द्र कुमार ने किया। इसी दिन इप्टा चंडीगढ़ के रंगकर्मियों ने बलकार सिद्धू के निर्देशन में अपूर्वानंद के नाटक ‘मदारी आया’ को पंजाबी में एके दा मंत्र उर्फ मदारी आया का मंचन किया। धर्म, जाति व नस्ल भेद को किस तरह तनाव एवं आतंक को बढ़ाने में इस्तेमाल किया जाता है, इस नाटक में यह संदेश बेहद प्रभावशाली ढंग से दिया गया।

अगले दिन सुबह खालसा स्कूल में इप्टा चंडीगढ़ द्वारा नाटक ‘ए लहु किस दा है’ के मंचन के साथ ही पंजाबी लोक नृत्यों का कार्यक्रम प्रस्तुत किया गया। शाम को चंडीगढ़ के ही कलाकारों ने पाकिस्तानी कथाकार लाली चौधरी की कहानी पर आधारित गुरुशरण

सिंह द्वारा रूपांतरित नाटक ‘मेरा लौंग गवाचा’ मंचित किया। इसी दिन इप्टा डोंगरगढ़ ने तजिन्दर सिंह भाटिया की कहानी पर आधारित दिनेश चौधरी द्वारा नाट्य रूपांतरित पहाड़पुर की कथा का मंचन राधेश्याम तराने के निर्देशन में किया।

मारवा थिएटर पुणे की प्रस्तुति ले मशालें लोकतांत्रिका अधिकारों के लिए 14 वर्षों से अनशन कर रही मणिपुर की प्रसिद्ध एक्टिविस्ट इरोम शर्मिला के संघर्ष को दर्शाती है। ओजस एस वी द्वारा निर्देशित इस नाटक में रेखा ठाकुर का एकल अभिनय निश्चित रूप से दर्शकों को भीतर तक हिला कर रख देता है। इसी दिन इप्टा भिलाई इकाई ने मोहित चट्टोपाध्याय का नाटक (हिन्दी रुपांतरण रणदीप अधिकारी) सुंदर का मंचन निशु पांडे के निर्देशन में किया।

भारंगम में ‘प्लीज़ मत जाओ’

नई दिल्ली में आयोजित भारत रंग महोत्सव में भोपाल के वरिष्ठ रंगकर्मी अनूप जोशी बंटी निर्देशित नाटक ‘प्लीज मत जाओ’ के मंचन को दर्शकों, रंगप्रेमियों की बेहिसाब सराहना मिली। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का यह नाट्य समारोह हर साल राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली द्वारा आयोजित किया जाता है। मराठी के महान नाटककार स्वर्गीय विजय तेन्दुलकर की दो कृतियों रात्रा और कालोख से प्रेरित इस नाटक को शहर के ही वरिष्ठ रंगकर्मी उदय शहाणे ने हिन्दी में अनुदित और पुनर्सृजित किया है।

‘प्लीज मत जाओ’ नाटक दो धरातलों पर इन्सान की परीक्षा लेता है जो उसके व्यक्तित्व और प्रवृत्ति के अनुरूप परिस्थितियों के रूप में उसके जीवन में घटित होते हैं। एक जगह पर वह अपने ही किसी के लिए त्रासदी का कारक बनता है और कालान्तर में एक जगह आकर उसके साथ भी वह सब घटित होता है जो उसके लिए त्रासद है। पैसों और सम्पन्नता के लालच में प्रेमिका को छोड़कर किसी और से

शादी कर लेने वाले व्यक्ति राजीव की यह कहानी है। एक वह क्षण है जब अपनी पत्नी को छोड़कर प्रेमिका के पास वापस लौटने पर उसे अंधा और बीमार जानकर भाग जाने वाले राजीव से सविता कहती है कि प्लीज मत जाओ और दूसरा नाटक का चरम है जब सुजाता नाम युवती से खुद भावनात्मक रूप से जुड़ जाने और उसके चले जाने पर वह याचना करता है, प्लीज मत जाओ।

नाटक का अन्तिम दृश्य इसी एक संवाद के साथ मंच पर उपस्थित तीनों प्रमुख कलाकारों की मनोदशाओं को प्रभावी ढंग से व्यक्त करता है। अनूप जोशी ने निर्देशन के साथ ही इस नाटक में राजीव की भूमिका भी निभायी थी जबकि सविता की भूमिका में प्रीति झा और सुजाता की भूमिका में भावना सिंह ने श्रेष्ठ अभिव्यक्त किया। थर्ड बेल की इस प्रस्तुति में संगीत मॉरिस लाजरस का था और प्रकाश संचालन तानाजी राव का। निर्देशक ने नाटक में टैगोर और ओ हेनरी के अलावा बाउल संगीत तथा बिदेसिया गीत की पंक्तियों का भावनात्मक प्रयोग किया है।

'प्लीज मत जाओ' नाटक के साथ एक भावनात्मक घटना यह भी जुड़ी है कि राजीव का किरदार इस मंचन के पूर्व प्रतिभाशाली रंगकर्मी अभिनेता चंद्रहास तिवारी ने निभाया था जिनका विगत वर्ष अकस्मात निधन हो गया। अनूप जोशी बंटी ने नाटक के मुख्य कलाकार और अपने प्रिय साथी के असमय निधन के बाद चिन्ता और चुनौती से उस किरदार को जीने की सफल कोशिश की। नई दिल्ली में यह मंचन एक भावनात्मक अवदान का साक्षी बन गया जब अन्तिम दृश्य में तीनों कलाकार सचमुच रो रहे थे। दर्शकों से खचाखच भरे हॉल में सबने खड़े होकर करतल ध्वनि से कलाकारों का अभिनंदन किया। **-सुनील मिश्र**

रंगशीर्ष 'जयदेव नाट्योत्सव'

आत्मा राम सनातन धर्म महाविद्यालय (दिल्ली विश्वविद्यालय) ने हिंदी के शीर्ष रंग आलोचक डॉ. जयदेव तनेजा के सम्मान में तीन दिवसीय ''रंगशीर्ष जयदेव नाट्योसव'' का आयोजन किया। यह उनके द्वारा स्थापित कॉलेज की नाट्य संस्था रंगायन की दस वार्षिकी का अवसर भी था। आयोजन श्रीराम सेंटर, मंडी हाउस में हुआ। जयदेव हिंदी नट्यालोचना के शीर्ष पुरुष हैं। रंग समीक्षा की जिस परम्परा की शुरुआत डॉ. नेमीचन्द्र जैन ने की थी, डॉ. तनेजा ने अपनी आलोचनात्मक कृतियों के द्वारा उसका निरंतर विकास किया। इस रूप में, हमारे समय के, हिंदी नाटक और रंगमंच के वे अकेले प्रेक्षक आलोचक हैं जिसने लगभग चालीस वर्षो तक नाट्य-प्रस्तुतियाँ देखी और उन पर लगातार अपनी कलम चलायी है।

इस अवसर पर उद्घाटन भाषण देते हुए विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. दिनेश सिंह ने कॉलेज को, नाट्य-संस्था रंगायन के एक-दशक की उपलब्धिपूर्ण यात्रा के लिए, बधाई देते हुए इस नाट्योत्सव को विश्वविद्यालय की सांस्कृतिक गतिविधियों की दिशा में एक नया और महत्वपूर्ण कदम माना। कुलपति ने तनेजा को शुभकामना देते हुए कहा कि आपने विश्वविद्यालयी रंगकर्म को रंगायन के माध्यम से एक नयी दिशा दी है। यह ए.आर.एस.डी. कॉलेज तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के लिए सामान रूप से गर्व की बात है।

कॉलेज के प्राचार्य डॉ. ज्ञानतोष कुमार झा ने कहा कि डॉ. तनेजा के सहयोग से ही कॉलेज में 'रंगायन' संस्था की नींव पड़ी। 'रंगायन' के निरंतर रंगकर्म और उपलब्धि-पूर्ण यात्रा का सारा श्रेय उन्होंने रंगशीर्ष जयदेव तनेजा को दिया। इस नाट्योत्सव के केन्द्र, कॉलेज के हिंदी विभाग के पूर्व प्रो., समकालीन हिन्दी रंगकर्म के शीर्ष रंग-समीक्षक डॉ. जयदेव तनेजा ने इस अवसर को अपने जीवन की महत्वपूर्ण उपलब्धि माना। अपनी निर्भीक, ईमानदार और चालीस वर्षों की लंबी रंग-समीक्षा यात्रा को याद करते हुए उन्होंने कहा कि ऐसा बहुत कम होता है कि (साहित्य और आलोचना के क्षेत्र में) आपको अपने घर के लोग याद करें और इतने समारोहपूर्ण ढंग से याद करें। उन्होंने कहा कि ए.आर.एस.डी. कॉलेज और उसके प्राचार्य डॉ. ज्ञानतोष कुमार झा ने हिंदी के इस मुहावरे - 'घर का जोगी जोगड़ा आन गाँव का सिद्ध' -को गलत साबित कर दिया, भले ही मैं सिद्ध योगी होऊँ या न होऊँ। यह मेरे लिए अपार हर्ष का विषय है।

कॉलेज के चेयरमैन श्री पवन जग्गी ने 'रंगायन' नाट्य संस्था और कॉलेज को उसकी रंग-उपलब्धि तथा नाट्योत्सव के लिए बधाई दी तथा डॉ. जयदेव तनेजा और कुलपति महोदय को धन्यवाद दिया। इस अवसर पर कॉलेज ने दो नाटकों का प्रदर्शन किया। पहले दिन कॉलेज के पास आउट छात्रों ने स्वदेश दीपक के नाटक 'कोर्ट-मार्शल' तथा दूसरे दिन वर्तमान छात्रों ने महाभारत के पात्र दानवीर कर्ण के जीवन पर आधारित

नाटक 'महारथी' का मंचन किया। दोनो प्रदर्शन दर्शकों, प्रेक्षकों और उपस्थित नाटककारों तथा रंगकर्मियों के द्वारा खूब सराहे गये। छात्रों का यह प्रदर्शन मंजे हुए कलाकारों के प्रदर्शन का आनंद देने में सफल रहा। मंच-व्यवस्था, ध्वनि, प्रकाश व्यवस्था और डायलॉग डिलिवरी के लिहाज से नाटक की काफी सराहना हुई। 'कोर्ट-मार्शल' का निर्देशन प्रसिद्ध रंग-निर्देशक जे. पी. सिंह ने किया। कोर्ट-मार्शल जो एक बहुमंचित और लोकप्रिय नाटक है का मंचन करना अपने आप में एक चुनौतीपूर्ण कार्य था। रंगायन के वरिष्ठ छात्रों ने सिंह के नेतृत्व में इस चुनौती को स्वीकार किया। कर्नल सूरत सिंह तथा कर्नल विकास रॉय की भूमिका में क्रमशः भानु प्रताप और हिम्मत सिंह नेगी के प्रदर्शन को खूब सराहा गयाद्य इस अवसर पर प्रेक्षागृह में प्रो. सत्येन्द्र तनेजा, डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय, दयाशंकर सिन्हा, रेवती शरण शर्मा अनीता राकेश, दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति प्रो. दिनेश आदि मौजूद रहे।

दूसरे दिन 'महारथी' नाटक का निर्देशन रोहित त्रिपाठी ने किया। इसमें कॉलेज के नौसिखिए छात्रों ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया। भड़कीले साजसज्जा और अनावश्यक चमत्कार पैदा करने की जगह निर्देशक ने प्रकाश और ध्वनि संयोजन के द्वारा नाटक की दृश्यता को उभारने की कोशिश की जो प्रभावशाली रहा। साथ ही दृश्य की जरूरत के अनुसार नाटक की संवेदना को उभारने के लिए निर्देशक ने दिनकर की रचना रश्मिरथी की काव्य पंक्तियों का पार्श्व प्रयोग किया। तीसरे दिन कॉलेज के प्रांगन में एक नुक्कड़-नाटक प्रतियोगिता का आयोजन किया गया जिसमे 22 कॉलेजों ने भाग लिया। उनमे अंतिम दस कॉलेजों के बीच फ़ाइनल प्रतियोगिता हुई जिसमे क्रमशः गुरुगोविंद सिंह कॉलेज, इद्रप्रस्थ कॉलेज तथा इंस्टीट्यूट ऑफ़ होम इकोनॉमिक्स ने प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय स्थान प्राप्त किया।

इस अवसर पर दो पुस्तकों और एक स्मारिका का विमोचन किया गया। 'रंगशीर्ष जयदेव', 'रंग-साक्षी' तथा 'रंगायन-यात्राः एक दशक' नाम से इनका प्रकाशन हुआ है। 'रंगशीर्ष जयदेव' (संपादक- डॉ. ज्ञानतोष कुमार झा) पुस्तक डॉ. जयदेव तनेजा पर केंद्रित है जिसमें उनके प्रिये परिजनों, दोस्तों, मित्रों, कॉलेज के सहकर्मियों तथा उनके स्वयम के आलेख सम्मिलित हैं। 'रंगायनः यात्रा एक दशक की' 'रंगायन' नाट्य संस्था की दस वर्षों की यात्रा का दस्तावेजीकृत रूप है। कार्यक्रम की संयोजिका डॉ. अनामिका प्रसाद ने पूरे कार्यक्रम का संचालन और धन्यवाद ज्ञापन किया।

- अरविंद कुमार मिश्रा

'बाजार हँस रहा है'

लेखपाल संघ सभागार, रायबरेली में चर्चित कवि एवं 'यदि' पत्रिका के संपादक रमाकांत की पुस्तक 'बाजार हंस रहा है' का विमोचन किया गया।

कृति पर प्रकाश डालते हुए वरिष्ठ गीतकार गुलाब सिंह ने कहा कि बाज़ार हंस रहा है क्योंकि आदमी रो रहा है और जब तक आदमी रोता रहेगा तब तक समाज में अमन और चैन नहीं आ सकता। युवा गीतकार अवनीश सिंह चौहान ने उक्त संग्रह पर विस्तार से चर्चा करते हुए कहा कि रमाकांत जी रायबरेली में दिनेश सिंह की परंपरा के अकेले कवि हैं। वह केवल गीत ही नहीं रचते, वरन वह गीत को जीते भी हैं।

आलोचक एवं शिक्षाविद शिवकुमार शास्त्री ने कहा कि पुस्तक न केवल बाजार की विसंगतियों को प्रस्तुत करती है, बल्कि बाजार के तौर तरीकों से भी अवगत कराती है। सुपरिचित ग़ज़लगो शमशुद्दीन अज़हर ने इस संग्रह की रचनाओं को समाज का आईना मानते हुए कहा कि रमाकांत जी जैसा देखते हैं वैसा ही लिखते हैं। साहित्यसेवी विनोद सिंह गौर ने इस कृति को अपने समय का जरूरी दस्तावेज मानते हुए रमाकांत को शुभकामनायें दीं। गीतकार रमाकांत ने अपनी रचना-प्रक्रिया को विस्तार से बतलाते हुए कहा कि उनकी ये लयात्मक अभिव्यक्तियां जीवन की सुंदरता के साथ उसकी कलुषता को भी सहज भाषा में प्रस्तुत करती हैं। अध्यक्षीय उद्बोधन में रामनारायण रमण ने रमाकांत के गीतों की भाषा को सहज एवं बोधगम्य बतलाया। उन्होंने कहा कि गीत में भाषा की मुख्य भूमिका होती है, शायद इसीलिये रमाकांत के गीतों की भाषा जन-सामान्य के इर्द-गिर्द घूमती है।

मीडिया की दो किताबें

मीडिया विमर्श, भोपाल के तत्वावधान में आयोजित समारोह में लेखक एवं मीडिया गुरु संजय द्विवेदी द्वारा संपादित दो पुस्तकों 'अजातशत्रु अच्युतानंद' और 'मीडिया, भूमण्डलीकरण और समाज' का विमोचन किया गया। इस मौके पर संपादक द्विवेदी ने कहा कि दोनों पुस्तकें रचनात्मक और सृजनात्मक पत्रकारिता के पुरोधाओं को समर्पित हैं। पुस्तकों का विमोचन माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय के पूर्व विद्यार्थियों ने किया, जो इन दिनों देश के विभिन्न मीडिया माध्यमों में कार्यरत हैं। कार्यक्रम का आयोजन भोपाल स्थित गांधी भवन में किया गया।

संजय द्विवेदी लगभग दो दशक से पत्रकारिता एवं लेखन के क्षेत्र में सक्रिय हैं तथा कई मीडिया संस्थानों में महत्वपूर्ण पदों पर रहे हैं। वर्तमान में वे माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल के जनसंचार विभाग के अध्यक्ष हैं। द्विवेदी कहते हैं कि ''भूमण्डलीकरण के बाद देश के मीडिया की स्थितियों में बहुत बदलाव आए हैं। सच कहें तो पूरी दुनिया ही बदल गई है। ऐसे में भूमण्डलीकरण के चलते विविध क्षेत्रों में पड़े प्रभावों का आकलन मीडिया प्राध्यापकों, पत्रकारों, चिंतकों और विद्वानों ने इस पुस्तक में किया है।'' पुस्तक में विभिन्न विद्वानों के 34 आलेख 203 तीन पृष्ठों में समाहित हैं। डॉ. रामगोपाल सिंह, पी. साईंनाथ, अष्टभुजा शुक्ल, प्रो. कमल दीक्षित, अंकुर विजयवर्गीय, लोकेन्द्र सिंह और ऋतेश चौधरी सहित अन्य विद्वानों ने इस पुस्तक में मीडिया में आए बदलावों को रेखांकित किया है।

घननाद : प्रसिद्ध छायाकार और लेखिका आभा भारती की बादल पर केंद्रित छायाचित्रों की प्रदर्शनी मुंबई की जहाँगीर आर्ट गैलरी में आयोजित की गई। अपने किस्म की अनूठी नुमाइश का शुभारंभ वरिष्ठ पत्रकार-चिंतक विश्वनाथ सचदेव ने किया।

साहित्य और सत्ता का गठजोड़ हिन्दी में नहीं

मुक्ति की लड़ाई सामूहिक होने पर ही लड़ी जा सकेगी छोटे-छोटे विभाजनों और संकुचन से बात नहीं बनेगी। साहित्य और समाज में वर्चस्वकारी शक्तियों के विरुद्ध जन प्रतिरोध की व्याख्या करते हुए हिन्दू कालेज में हुए एक आयोजन में सुप्रसिद्ध कथाकार और 'तद्भव' संपादक अखिलेश ने कहा कि इस लड़ाई को धार देने के लिए अपने मुहावरों और तर्कों में नयापन लाना आवश्यक है। उन्होंने रचनात्मकता के लिए परिवर्तन को आवश्यक बताते हुए कहा कि सामाजिक परिवर्तन के लिए भी छिपे हुए तथ्यों को उद्घाटित करना होगा।

अखिलेश ने इस अवसर पर अपने सद्य प्रकाशित उपन्यास 'निर्वासन' के एक रोचक अंश का पाठ भी किया। इस अंश में अवध के एक ग्रामीण इलाके में पड़े लम्बे अकाल के कारण उपजे हालात का वर्णन था और जिसके कारण उपन्यास के एक पात्र भगेलू पांडे को गिरमिटिया बनकर देश छोड़ना पड़ा था। विद्यार्थियों के सवालों का जवाब देते हुए उन्होंने कहा कि साहित्य और सत्ता का गठजोड़ हिन्दी में अभी तक नहीं हुआ है और साहित्य सदैव प्रतिरोध की भूमिका में रहा है। सरकारी विज्ञापनों के संदर्भ में उन्होंने कहा कि अभी तक साहित्यिक पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु और विचारधारा पर इनका असर नहीं है। एक छात्रा के सवाल के जवाब में उन्होंने प्रेमचंद, टालस्टाय, दोस्तोयवस्की, चेखव, अमरकांत, ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया और काशीनाथ सिंह को अपने प्रिय लेखकों में शुमार किया। उन्होंने तद्भव में प्रकाशित होने की एकमात्र कसौटी गुणवत्ता को बताया।

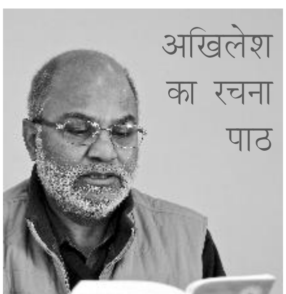

इससे पहले विभाग के आचार्य डॉ रामेश्वर राय ने स्वागत उद्बोधन में कहा कि साठोत्तरी आन्दोलनों के बाद के परिदृश्य में अखिलेश का लेखन पहले दर्जे का है। हिन्दी गद्य की ऊंचाइयों में उन्होंने प्रेमचंद, प्रसाद और निर्मल वर्मा के लेखन के साथ अखिलेश की कृति 'वह जो यथार्थ था' को शामिल करना आवश्यक बताया। डॉ अभय रंजन ने गुलदस्ता भेंट कर अखिलेश का स्वागत किया। हिन्दी विभाग के प्रभारी डॉ पल्लव ने 'निर्वासन' में पूंजी और राजसत्ता-धर्मसत्ता के गठजोड़ को रेखांकित किया। आयोजन में विभाग के अध्यापकों डॉ हरीन्द्र कुमार, डॉ अरविन्द सम्बल, डॉ. नीलम सिंह, मिहिर पंड्या, दिनेश कुमार, प्रवीण कुमार सहित सहित बड़ी संख्या में विद्यार्थी और शोधार्थी उपस्थित थे। संयोजन डॉ राजीव कुमार ने किया तथा साहित्य सभा के परामर्शदाता डॉ विमलेन्दु तीर्थंकर ने आभार व्यक्त किया।

‘इलेक्ट्रॉनिकी’ का 250वाँ अंक विमोचित

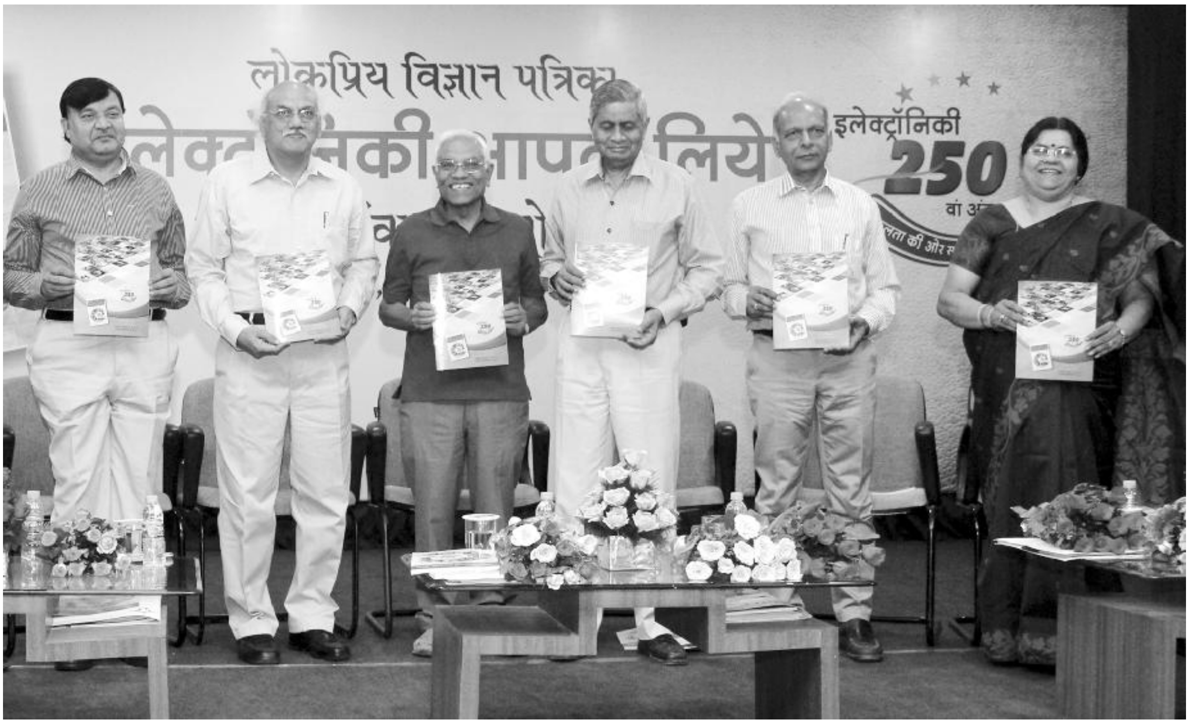

लोकप्रिय विज्ञान पत्रिका ‘इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए’ **250**वें अंक का विमोचन समारोह आईसेक्ट विवि भोपाल में संपन्न हुआ जो कि विज्ञान-विमर्श का जरिया बना। इस अवसर पर देश भर के विज्ञान लेखक, विज्ञान संचारक और विज्ञानप्रेमी उपस्थित हुए। समारोह में चार विभिन्न गतिविधियाँ सम्पन्न हुईं जिसमें पत्रिका का विमोचन, नाटक ‘गैलिलियो’ का मंचन, विज्ञान फिल्म प्रदर्शन तथा दो विचार सत्रों में विज्ञान परिचर्चाएं की गईं।

विज्ञान-विमर्श की महत्वपूर्ण पहल

पत्रिका का विमोचन मनोज पटैलिया, शरदचंद्र बेहार, इं.अनुज सिन्हा, डॉ. वि.डी. गर्दे, मनमोहन बाला, संतोष चौबे और विनीता चौबे द्वारा किया गया। विमोचन के दौरान संपादक संतोष चौबे ने 250वे अंक तक की इलेक्ट्रॉनिकी प्रकाशन यात्रा पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि आरंभ के वर्षों में ही हमने यह महसूस कर लिया था कि सिर्फ सरकारी सहयोग पर निर्भर रहकर कोई पत्रिका सतत रूप से नहीं निकाली जा सकती है। दूसरे इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर और दूरसंचार जैसे विषयों पर लिखने वाले लोगों को देश में उँगलियों पर गिना जा सकता था और उनमें से अधिकतर दिल्ली जैसे बड़े शहरों में थे और बहुत व्यस्त थे। इसलिए लेखकों के साथ हमें नए लेखकों को पैदा भी करना था। हमने इस दिशा में काम करते हुए अपना नेटवर्क तैयार किया। आरंभ के कुछ वर्षों में राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद का सहयोग प्राप्त हुआ, बाद के वर्षों से अब तक इसका प्रसार-प्रचार हमारे नेटवर्क द्वारा हुआ। फलस्वरूप पत्रिका की पाठकीय संख्या तीस हजार हो गई। आरंभ के वर्षों में ही हमने यह महसूस कर लिया था कि सिर्फ सरकारी सहयोग पर निर्भर रहकर कोई पत्रिका सतत रूप से नहीं निकाली जा सकती है। दूसरे इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर और दूरसंसार जैसे विषयों पर लिखने वाले लोगों को देश में उँगलियों पर गिना जा सकता था और उनमें से अधिकतर दिल्ली जैसे बडे शहरों में थे और बहुत व्यस्थ थे। इसलिए लेखकों के साथ हमें नए लेखकों को पैदा भी करना था। हमने इस दिशा में काम करते हुए अपना नेटवर्क तैयार किया। आरंभ के कुछ वर्षों में राष्ट्रीय विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचार परिषद का सहयोग प्राप्त हुआ, बाद के वर्षों से अब तक इसका प्रसार-प्रचार हमारे नेटवर्क द्वारा हुआ। कभी-कभी प्रकाशन का आँकडा 50 हजार तक पहुँचा। इस अवसर पर मनोज पटेरिया, शरद चंद्र बेहार ने पत्रिका के प्रकाशन के संदर्भ में अपना अनुभव साझा किए।

द्वितीय सत्र में ब्रेख्त द्वारा रचित और संतोष चौबे द्वारा अनूदित नाटक ‘गैलिलियो’ का मंचन रंगकर्मी मनोज नायर के कुशल निर्देशन में हुआ। इसके पूर्व संचालक विनय उपाध्याय ने इसी संदर्भ में अपनी बात रखते हुए कहा- विज्ञान लेखन और विज्ञान जनसंप्रेषण के क्षेत्र में

चली आ रही परंपरा से हटकर आईसेक्ट और 'इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए' ने नए मानक रचे हैं। इसमें न केवल श्रेष्ठ प्रकाशन की वृहद शृंखला 'अनुसृजन' के माध्यम से शुरू की गई बल्कि आईसेक्ट स्टुडियो के माध्यम से रेडियो में विज्ञान पत्रिका और रंगमंच के माध्यम से विज्ञान नाटकों को जन सम्प्रेषण से जोड़ने की पहल की।

तीसरे सत्र में विज्ञान प्रसार द्वारा विज्ञान फिल्मों का प्रदर्शन किया गया। सबीर अब्बास द्वारा निदेर्शित 'वेनेशिंग वल्चर' और मेथ्यु रहमान द्वारा निर्देशित 'साइंस विवाइंड इंडियन मोनोवेशन' फिल्मों के जरिए पर्यावरण के बिगडते संतुलन तथा मोनोमीटर साइंस को रेखांकित किया गया। 'वेनेशिंग वल्चर' पर चर्चा करते हुए कपिल तिवारी ने बताया कि हमारी प्राकृति संपदा के संतुलन में गिद्धों का महत्वपूर्ण योगदान है।

चौथा सत्र विज्ञान पर केन्द्रित रहा। इस सत्र में 'हिन्दी में विज्ञान लेखन : स्थिति और चुनौतियाँ' तथा 'विज्ञान का गल्प' विषय पर परिचर्चा हुई। इन दोनों सत्रों में देवेन्द्र मेवाडी, मनमोहन बाला, डॉ. प्रदीप मुखर्जी, पुष्पेन्द्र पाल सिंह, रविशंकर श्रीवास्तव, डॉ. प्रबल राय, डॉ. जाकिर अली 'रजनीश', डॉ.गिरिजा शंकर शर्मा, इरफान ह्यूमन, सुभाष चंद्र लखेडा, डी.डी.ओझा आदि ने वक्तव्य दिये। विमोचन समारोह के अवसर पर टेलिस्कोप निर्माण और आकाश दर्शन कार्यशाला आयोजित की गई जिसमें विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों ने भाग लिया। आंचलिक विज्ञान केन्द्र द्वारा विज्ञान मॉडलों एवं प्रयोगों का प्रदर्शन, चलित विज्ञान प्रदर्शिनी तथा कम्प्यूटर आधारित गतिविधियों का प्रदर्शन किया गया। इलेक्ट्रॉनिकी आपके लिए के 250वें अंक की यात्रा पर केन्द्रित स्मारिका तथा ए.यू. टाइम्स का विमोचन भी किया गया। समारोह में देश भर से आये विज्ञान लेखक डॉ. मनोज पटेरिया, देवेन्द्र मेवाडी, सुभाषचन्द्र लखेड़ा, डॉ. इरफान ह्यूमन, डॉ.डी.डी.ओझा, कपिल त्रिपाठी, डॉ. मनमोहन बाला, मनीष मोहन गोरे, संजय गोस्वामी, राकेश शुक्ला, ओ.पी.शर्मा, धर्मेन्द्र कुमार मेहता, डॉ. जाकिर अली रजनीश, देवव्रत द्विवेदी, राजेन्द्र शर्मा अक्षर, डॉ. अनुराग सीठा, संतोष शुक्ला, डॉ.एन.के. तिवारी, रविशंकर श्रीवास्तव, चक्रेश जैन, डॉ. प्रबल राय, पुष्पेन्द्र पाल सिंह, संतोष कौशिक, डॉ. प्रदीप मुखर्जी, वसंत निरगुणे, कृष्णगोपाल व्यास, विकास शेंडे, रेखा श्रीवास्तव, एस.पी.सिंह, अनामिका चक्रवर्ती आदि ने भाग लिया।

लोक कलाकारों के आगे शहरी कलाकार कुछ भी नहीं

युवाओं को रंगमंच की वास्तविक बारिकीयों और गतिविधियों से रूबरू कराने के उद्देश्य से आयोजित 'रंग संचार नि:शुल्क थिएटर वर्कशॉप' में वरिष्ठ रंगकर्मी और अभिनेता आलोक चटर्जी द्वारा अभिनय के साथ-साथ रंगमंच के पहलुओं के बारे में टिप्स दी गई। भोपाल के जनमोहनदास स्कूल में चल रही कार्यशाला में आलोक चटर्जी द्वारा प्रदेश की लोक संस्कृति, लोक शैली, लोक नाट्य, लोक नृत्य और लोक संगीत के इतिहास पर नाटक की बारिकीयां सीख रहे छात्रों को जानकारी दी। उन्होंने कहा कि लोक कलाकारों के आगे शहरी कलाकार कुछ भी नहीं हैं। लोक कलाकार स्क्रीप्टेड से ज्यादा इतिहास को जान और समझकर काम करते हैं। उनके पास लोक नाट्य शैली के साथ-साथ अभिनय करने की कला, नृत्य करने की शैली और संगीत और गायन में मजबूत पकड़ होती है। इस बीच उन्होंने प्रदेश की लोक कलाओं के बारे में बताते हुए कहा कि मालवा में माच शैली, बुंदेलखण्ड में स्वांग शैली का मंचन आज भी किया जाता है। माच शैली में प्रेस श्रृंगार रस और नाचा में पैरोडी और सामाजिक घटनाक्रम को बखूबी अंदाज में पेश किया जाता है। इसके साथ ही पण्डवानी (पाण्डवों की वाणी) में मुख्य गायक के पास एकतारा होता है, उसी के सहारे वो कलाकार अपनी गायकी से मंत्रमुग्ध कर देता है। इसके उदाहरण झाडूराम देवांगन, तीजन बाई और रितु वर्मा हैं। आलोक ने देश की लोक शैलियों पं. बंगाल - जात्रा, बिहार - बिदेसिया, मणिपुर - नटसंर्कितन, असम - अंकिया नाट्य, उत्तर प्रदेश - नौटंकी, राजस्थान - ख्याल, गुजरात - भवई, आंध्रप्रदेश - बुर्राकथा की जानकारी भी दी।

वाईस आफ खंडवा

सावन की तेज बारिश भी खंडवा के संगीतप्रेमियों को संजीवनी के सुरमयी गीतों को सुनने से नहीं रोक सकी। बड़ी संख्या में संगीतप्रेमियों ने किशोर सांस्कृतिक प्रेरणा मंच एवं नगर निगम प्रशासन के सहयोग से आयोजित किशोर नाईट में पहुंचकर मुंबई सुप्रसिद्ध पाश्र्व गायिका संजीवनी व पार्श्व गायक किशोर पाराशर के गीतों को सुना। किशोर बरसते पानी में संजीवनी ने ज्योति कलश झलके गीत से इस सुरमयी रात का शुभारंभ कर अंतिम राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत वंदे मातरम् गीत गाकर इस सभा का समापन किया। संजीवनी ने जहां किशोर दा के नगमों को गुनगुनाया वहीं लता के भी गीतों की भी शानदार प्रस्तुतियां दी जिसमें ''पंख होते तो उड़ जाती रे, इस मोड़ से आते है, देखा एक ख्वाब को ये सिलसिले हुए, रिमझिम गिरे सावन, कुछ तो लोग कहेंगे'' जैसे लोकप्रिय गीतों के साथ फिल्म करीब के खुद के गाए 'चोरी-चोरी जब दिल ने कहा' गीत गुनगुनाया तो संगीतप्रेमियों ने तालियाँ बजाकर इस गायिका का जोरदार स्वागत किया। किशोर पाराशर ने भी किशोर दा के पल-पल दिन के पास, कहना है, मेरे सामने वाली खिड़की में जैसे गीतों को गाकर किशोर दा

को श्रद्धासुमन अर्पित किए। इस अवसर पर किशोर नाईट में वाईस आफ खंडवा के तीनों ग्रुपों के विजेताओं को बैंक ऑफ इंडिया की ओर से सम्मानित कर पुरस्कार स्वरूप चेक प्रदान किए गए।

ग्रुप ए में विजेता अमन गुमास्ता निवासी खण्डवा, ग्रुप बी में जयेश मलवाड़े निवासी महेश्वर, तथा ग्रुप सी में खरगोन निवासी अय्या अयूब खान को ग्यारह हज़ार रुपये के चेक प्रदान किए गए। ग्रुप सी में द्वितीय स्थान पर आरिफ खान खरगोन तथा तृतीय स्थान पर रहे ऑटो जोसेफ। ग्रुप बी में द्वितीय स्थान पर अंशुल जोशी व तृतीय स्थान पर प्रज्ञा चौहान। ग्रुप ए में यश पाण्डे द्वितीय स्थान पर जबकि इस ग्रुप में तृतीय स्थान पर श्रीतम मनवाड़े रहे। कार्यक्रम में विधायक देवेन्द्र वर्मा, कलेक्टर डॉ. एम.के. अग्रवाल, पुलिस अधीक्षक डॉ. महेन्द्र सिकरवार, एसडीएम खण्डवा शाश्वत शर्मा, निगमायुक्त जे.जे. जोशी के साथ ही बैंक आफ इंडिया के प्रबंधक एस.पी. राय, शम्भू प्रसाद राय के साथ मंच के किशोर सांस्कृतिक प्रेरणा मंच के अध्यक्ष रणवीर चावला, नारायण बाहेती, शरद जैन, सुनील जैन, सुनील सकरगाए, आशीष चटकेले, दिनेश पालीवाल, भूपेन्द्र सिंह चौहान, देवेन्द्र जायसवाल, रवि जायसवाल, लक्ष्मण चौहान, सुरेन्द्र सोलंकी, मनोज शाह, सतीश जैन, चंद्रशेखर मिश्रा, कमलेश गुप्ता, हरदीप छाबड़ा, दीपक जोशी, रीतेश गोयल के अलावा सुनिता सकरगाए, प्रतिभा रघुवंशी, नगर पुलिस अधीक्षक शेषनारायण तिवारी, थाना प्रभारी अजीत पटेल उपस्थित थे। कार्यक्रम का संचालन प्रदीप जैन ने किया एवं आभार नारायण बाहेती ने माना।

'धूप की संदूक' पाठ्यपुस्तक में

सुपरिचित युवा कवि वसंत सकरगाए की कविता 'धूप की संदूक' को केरल सरकार शिक्षा विभाग, राज्य शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् ने कक्षा छठवीं की हिन्दी पाठ्य पुस्तक में शामिल किया है। बाल सुलभ मनोभाव पर एकाग्र यह कविता विज्ञान और सामाजिक सरोकारों के बीच एक आत्मीय रिश्ता जोड़ती है। यह कविता कुछ वर्ष पहले लोकप्रिय बाल पत्रिका 'चकमक' में प्रकाशित हुई थी। पुस्तक में बाबुलाल शर्मा 'प्रेम', कवि प्रदीप, सुभद्रा कुमारी चौहान, शेल सिलवरस्टाइन तथा गुलजार की कविताएं भी शामिल है। वसंत म.प्र. साहित्य अकादमी के दुष्यंत कुमार तथा म.प्र. साहित्य सम्मेलन के वागीश्वरी सम्मान से सम्मानित हैं। 'निगहबानी में फूल' उनका कविता संग्रह काफी चर्चित रहा है।

प्रमिला को 'छाया रत्न'

छायाकला को समर्पित भोपाल की संस्था 'बिम्ब' ने स्वर्णजयन्ती वर्ष में वरिष्ठ महिला छायाकार प्रमिला नवल को 'छायारत्न' सम्मान से अलंकृत किया। समारोह के अध्यक्ष थे वरिष्ठ साहित्यकार एवं आईसेक्ट विश्वविद्यालय के कुलाधिपति सन्तोष चौबे। माखनलाल विश्वविद्यालय के कुलपति ब्रजकिशोर कठियाला भी उपस्थित थे।

डॉ. रामविलास शर्मा स्मृति व्याख्यान

भारत हिन्दूराष्ट्र नहीं, बहुजातीय राष्ट्र है। इसमें हिन्दी, बंगाली, तमिल, मराठी, मणिपुरी आदि अनेक जातियाँ अपनी-अपनी साँस्कृतिक पहचान के साथ परस्पर मेलजोल से रहती हैं। इसलिए डॉ. रामविलास शर्मा भारतीयता को मानसिक अवधारणा नहीं, बल्कि ऐतिहासिक वास्तविकता मानते थे।

आलोचक डॉ. अजय तिवारी ने ये विचार लोकमंगल न्यास भोपाल द्वारा आयोजित 'डॉ. रामविलास शर्मा शताब्दी:स्मृति व्याख्यान' के तहत भोपाल की साहित्यिक बिरादरी के बीच साझा किए। शामला हिल स्थित रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप परिसर में हुए इस विचारपरक आयोजन का विषय था- 'रामविलास शर्मा और भारतीयता की अवधारणा'। इसमें रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप, वनमाली सृजनपीठ तथा रंग विदूषक सहयोगी घटक थे।

डॉ. तिवारी ने रामविलास जी के अवदान को याद करते हुए कहा कि साहित्यिक आलोचना, भारतीय इतिहास, दर्शन, संगीत, भाषा, चिंतन आदि अनेक क्षेत्रों में प्रचलित भ्राँतियों को दूर किया है और औपनिवेषिक चिंतन,साम्प्रदायिक राष्ट्रवाद तथा जड़ मार्क्सवाद की धारणाओं को बदलने का काम किया है।रामविलास जी ने जितना बड़ा वैचारिक संघर्ष किया उतना किसी दूसरे लेखक ने नहीं किया।

शुरु में लोकमंगल न्यास के अध्यक्ष रामप्रकाश त्रिपाठी तथा सचिव राजेश जोशी ने इस आयोजन के महत्व पर प्रकाश डाला।

प्रेमचंद उर्दू कहानी के बाबा आदम

साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल द्वारा आयोजित निरंतर रचनापाठ की श्रृंखला के अंतर्गत वरिष्ठ रचनाकार श्याम मुंशी की अध्यक्षता में डॉ. स्वाती तिवारी और डॉ. अनिता सिंह चौहान का कहानीपाठ हुआ। प्रेमचंद के उर्दू अवदान पर वरिष्ठ कहानीकार नईम कौसर ने वक्तव्य दिया। डॉ. चौहान ने 'खिलौना भगवान' और 'खाली पेट की भूख' कहानियों का पाठ किया और डॉ. स्वाति तिवारी ने 'बूँद गुलाब जल की' और 'पानी' तथा 'मुट्ठी में दबे चाकलेट' आदि कहानियों का पाठ किया।

श्याम मुंशी ने कहा कि कहानी का कोई भी काल हो उसका स्वरूप बदलता है। आज की कहानी आज के वक्त के हिसाब से चल रही है, लेकिन इनके साथ ही हमारी मौजूदा चुनौतियों के अलावा पुरानी परेशानियाँ और जद्दोजहद अभी खत्म नहीं हुई है। मुंशी प्रेमचंद ने हमें तमाम परेशानियों से रू-ब-रू कराया, जिसमें दबे कुचले, मेहरूम, मौजदूरों और गरीब किसानों की परेशानियों से दो-चार कराया है। नईम कौसर ने कहा कि आज से 66 वर्ष पहले मैंने प्रेमचंद की 'ईदगाह' कहानी को पढ़ा था और उससे प्रभावित होकर मैंने बच्चों के लिए कहानियाँ लिखकर अपनी कहानियों की शुरुआत की थी। उन्होंने कहा कि प्रेमचंद उर्दू अफसाने के बाबा आदम हैं। साहित्य अकादमी के प्रभारी निदेशक आनंद सिन्हा ने स्वागत वक्तव्य दिया। इस अवसर पर महेन्द्र गगन, सुरेश तिवारी, उर्मिला शिरीष, प्रतिभा गोटीवाले, सुनीता कुलकर्णी, रामनिवास झा, मोहन सगोरिया, अशोक बुलानी, दीपक पगारे आदि उपस्थित थे।

गुरूवंदना महोत्सव

तीन अगस्त की सुहानी शाम। मानस भवन भोपाल के रामकिंकर सभागृह के बाहर झमाझम बरसात हो रही थी और सभागृह के भीतर गुरू-शिष्य परंपरा के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों के यशस्वी वरिष्ठ गुरुओं के सम्मान के श्रद्धापूरित वातावरण में नवोदित गायिका कुमारी वीणा साठे और कुमारी सुरसरि सेन प्रख्यात संगीतकार कल्याण सेन के संगीत-निर्देशन में चुनिंदा फिल्मी और गैर-फिल्मी गीतों की सुमधुर प्रस्तुतियाँ दे रही थीं। प्रसंग था साहित्य, संगीत और कलाओं की मानक संस्था 'मधुवन' के 45वें गुरू वंदना महोत्सव का। महोत्सव की अध्यक्षता माधवराव सप्रे समाचार पत्र संग्रहालय (भोपाल) के संस्थापक निदेशक पद्मश्री विजयदत्त श्रीधर ने की, जबकि मुख्य अतिथि थे म.प्र. के पूर्व मुख्य मंत्री कैलाश जोशी। देश के महान गुरू पूर्व राष्ट्रपति डॉ. ए.पी.जे. अब्दुल कलाम को दो मिनट की मौन श्रद्धांजलि के पश्चात प्रारंभ हुए गरिमापूर्ण गुरू वंदना महोत्सव का शुभारंभ भोपाल के सुप्रसिद्ध संगीतकार एवं गायक अनूप शर्मा की शिष्याओं द्वारा 'सरस्वती वंदना' से हुआ।

इस मौके पर आठ वरिष्ठ मनीषियों को शॉल, श्रीफल, प्रशस्ति पत्र और सरस्वती की प्रतिमा भेंट कर सम्मानित किया गया जिन्होंने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विशेष योगदान दिया है। सम्मानितों में मुरादाबाद (उ.प्र.) के प्रख्यात गीतकार डॉ. महेश्वर तिवारी, रायपुर के वरिष्ठ पत्रकार रमेश नैयर, जयपुर के रंगकर्मी वासुदेव भट्ट, भोपाल की शिक्षिका कमला सक्सेना, ध्रुपद गायिका मधु भट्ट तैलंग और जयपुर के दी ब्लू पॉटरी हस्तशिल्पी गोपाल सैनी, शिल्पकार राबिन डेविड और भोपाल की समाज लेखिका गीता बेन शाह। सम्मानित मनीषियों की ओर से डॉ. माहेश्वर तिवारी ने संबोधित किया। महोत्सव के मुख्य अतिथि पूर्व मुख्यमंत्री कैलाश जोशी ने मधुवन संस्था के कार्यों की सराहना की। अंत में आभार संस्था के निदेशक सुरेश तांतेड़ ने व्यक्त किया। **-युगेश शर्मा**

हमारा समय और भीष्म साहनी

मध्यप्रदेश प्रगतिशील लेखक संघ इकाई सतना द्वारा भीष्म साहनी शताब्दी वर्ष के संदर्भ में 'हमारा समय और भीष्म साहनी' विषय पर एक वृहद् आयोजन किया गया। मुख्य अतिथि सुप्रसिद्ध कहानीकार, उपन्यासकार, रंगकर्मी तथा इप्टा दिल्ली की अध्यक्ष नूर जहीर थी। कार्यक्रम की अध्यक्षता कहानीकार महेश कटारे (ग्वालियर) ने की तथा विशिष्ट अतिथि के रूप में लेखक और मध्यप्रदेश प्रलेस के महासचिव विनीत तिवारी (इंदौर) उपस्थित थे। अनिल अयान ने स्वागत भाषण प्रस्तुत किया।

विनीत ने भीष्म साहनी की रचनाओं तथा उनके समय की राजनैतिक, सामाजिक विसंगतियों का उल्लेख करते हुए कहा कि आज का समय भीष्म साहनी जैसे लेखक से प्रेरणा लेने और उनका

अनुसरण करने का समय है। महेश कटारे ने अपने वक्तव्य में आज के किसानों, मजदूरों और निम्न मध्य वर्ग के लोगों की दयनीय दशा का उल्लेख करते हुये बताया कि सत्ता का चरित्र कुछ इस प्रकार का है कि वह कमजोर वर्गों का हर तरह से शोषण करती है। उन्होंने कहा कि भीष्म साहनी धर्म को राजनीति से अलग करने के पक्षधर थे और मानते थे कि सभी नागरिकों को समान अधिकार देते हुये निजी धार्मिक मान्यताओं को उसके नागरिक कर्तव्यों से अलग रखा जाना चाहिये। नूर जहीर ने भीष्म साहनी के साथ के संस्मरणों को आत्मीय ढंग से प्रस्तुत किया। और उन्होंने कहा कि भीष्म साहनी ने नाटक की नई परम्परा प्रारंभ की।

कार्यक्रम का संचालन सतना इकाई के अध्यक्ष संतोष खरे ने किया और आभार प्रदेश सचिव मंडल के सदस्य बाबूलाल दाहिया ने व्यक्त किया। विमर्श के उपरांत भीष्म साहनी पर एक लघु वृत्त चित्र प्रदर्शित किया गया जिसने सभागार में उपस्थित लोगों को गहराई से स्पर्श किया। **-संतोष खरे**

संगीत को समर्पित इंदौर की संस्था 'पंचम निषाद' द्वारा आयोजित एक समारोह में यशस्वी शास्त्रीय गायिका शोभा चौधरी ने मूर्धन्य संगीतविद् और गायक पं. गोकुलोत्सव महाराज का अभिनंदन किया।

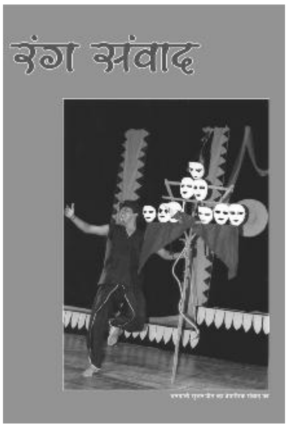

रंगमंच तथा सृजनात्मक विधाओं के अंतर्संवाद और विमर्श का खुला पटल

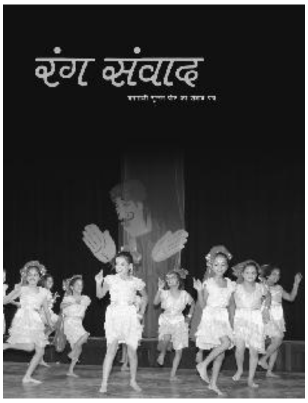

संपर्क

रंग संवाद

वनमाली सृजन पीठ

22, E-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016

9826256733 (संतोष चौबे)
choubey@aisect.org,
9826392428 (विनय उपाध्याय)
vinay.srujan@gmail.com

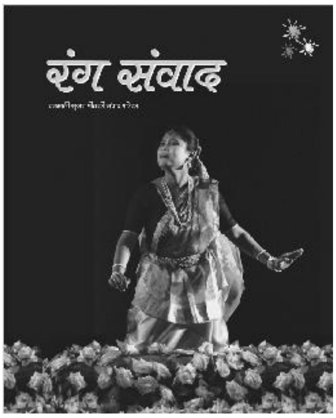

राष्ट्रीय हिन्दी अकादेमी रुपांबरा, कोलकाता, दुष्यंत कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय तथा करवट कला परिषद् भोपाल द्वारा पुरस्कृत पत्रिका